ऐतरेयोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

व्याख्याकार :

स्वामी त्रिभुवनदास

ऐतरेयोपनिषत्

AITAREYOPANISAT

।।श्रीः।।

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

१९६

ऐतरेयोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

(विमर्शात्मकसंस्करण)

व्याख्याकार

स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

ऐतरेयोपनिषत्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2017
पृष्ठ : 34+84
मूल्य : ₹ 100.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-741-0

सम्पादन सहयोग - रुद्रनारायणदास

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
196

AITAREYOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

(Critical Edition)

by

Swami Tribhuvandass

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Aitareyopanisat

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2017
Pages : 34+84
Price : ₹ 100.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-741-0

Editorial Assistance - Rudranarayandass

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त **श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज** की पावन आज्ञा से प्रवर्तमान उपनिषद्व्याख्यान माला का अष्टम प्रसून ऐतरेयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या प्रस्तुत है। पूज्य गुरुदेव और अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर **श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज** ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्य के प्रेरणास्रोत हैं। मैंने व्याकरण तथा वेदान्त के अप्रतिम विद्वान् **पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल** और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम **स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीजी** से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

श्रीरामशरणदास(श्रीरामानन्दाचार्यसेवापीठ चतरा, वराहक्षेत्र, नेपाल) ने प्रस्तुत ग्रन्थ का अक्षरशुद्धिनिरीक्षण और **श्रीरुद्रनारायणदास** (स्वामी रामानन्दाश्रम, मायाकुण्ड ऋषीकेश) ने सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है तथा शास्त्रों के प्रचार-प्रसार के लिए कटिबद्ध **श्रीप्रवीणकुमार गुप्त** (चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली) ने तत्परता से इसे प्रकाशित किया है। इन सभी के स्तुत्य सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

होलिकोत्सव
श्रीचैतन्यमहाप्रभुजयन्ती — स्वामी त्रिभुवनदास
वि.सं. 2073

शुभ-आशीर्वाद

श्रीराम

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। वे वेदों के सारसर्वस्व हैं। श्रीत्रिभुवनदासजी ने उपनिषदों पर विशद तत्त्वविवेचनी व्याख्या करके पाठकों का अत्यन्त हित किया है। वास्तव में आजकल पाठकों एवं लेखकों की आध्यात्मिक विषय में रुचि ही नहीं है। यह प्रेरणास्पद कार्य अपने में अनूठा है, इस महान् कार्यहेतु मैं आशीर्वाद देता हूँ।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास छावनी
अयोध्या

शुभसम्मति

वेद के चार विभाग हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत ऐतरेयोपनिषत् है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि महीदास ऐतरेय हैं, इन्हें भगवदनुग्रह से वेदमन्त्रों का साक्षात्कार हुआ था। इनकी माता का नाम इतरा होने से इनका ऐतरेय अभिधान है और मही(पृथ्वी)देवी की कृपा होने से ये महीदास भी कहलाते हैं।

अन्य उपनिषदों की भाँति प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् भी सविशेष अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किंचन् मिषत्।**(ऐ.उ.1.1)यह इस उपनिषत् का प्रथम मन्त्र जगत्कारणता के प्रसंग में होने से सविशेष ब्रह्म का ही निरूपण करता है। निर्विशेष वस्तु जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्य नहीं हो सकती, उसकी किसी भी प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। **स ईक्षत, लोकान्नु सृजा इति।**(ऐ.उ.1.1) इस प्रकार पूर्व में विद्यमान परमात्मा के संकल्पपूर्वक सृष्टि का वर्णन होने से वह जगत्कारण ब्रह्म सत्य ही सिद्ध होता है, मायोपाधिक नहीं। **स एतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना-ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वा-ऽमृतस्समभवत् समभवदिति।**(ऐ.उ.5.4) यह उपसंहार वाक्य इस लोक से अप्राकृतलोक जाकर मुक्त का कल्याणगुणों के सहित ब्रह्म के अनुभव का प्रतिपादन करता है, इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार वाक्यों से सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन होता है, ऐसे ही तात्पर्यनिर्णायक अभ्यास आदि चार लिंग भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। यह उपनिषत् अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता, सर्वात्मा ब्रह्म, जीव और ब्रह्म में प्राप्य-प्रापकभाव, ब्रह्मवेत्ता का भगवद्धाम जाकर सविशेष

ब्रह्म का अनुभवरूप मोक्ष इत्यादि विषयों का प्रतिपादन करती है।

असंख्येय कल्याणगुणगणनिलय, निखिलहेयप्रत्यनीक, परमानन्दचिन्मूर्ति भक्तवत्सल, शरणागतवत्सल श्रीसीतारामचन्द्र भगवान् की अहेतुकी कृपा से विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन तथा तत्त्वत्रयम्, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य और तैत्तिरीयोपनिषद् की तत्त्वविवेचनी तथा केन और माण्डूक्योपनिषत् के रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या के प्रकाशन के पश्चात् अब ऐतरेयोपनिषत् की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित होने जा रही है। हमारे परमादरणीय, श्रद्धेय, तपःपूत, अप्रतिम दार्शनिक विद्वान्, श्रीस्वामी त्रिभुवनदासजी के द्वारा भगवान् श्रीसीतारामजी महाराज यह सनातन धर्म की सेवा करा रहे हैं। हमारे आराध्य श्रीसीतारामजी व्याख्याकार को अपने चरणों की विमल रति प्रदान करते हुए नैरुज्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान कर ऐसी ही सत्साहित्यसृजन की सेवा कराते रहें।

आश्विनकृष्णपक्ष
प्रतिपदा, वि.सं.2073
सत्संगशिविर हनुमद्धाम
शुकताल

दासानुदास
राजेन्द्रदास देवाचार्य
व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्य
मलूकपीठ, वृन्दावन

सम्पादकीय

ऐतरेयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही व्याख्या सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने केलिए इसे समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामी जी को इष्ट है फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासंगिक है। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदों के अध्येता इस ग्रन्थ रत्न का आदर करेंगे।

रुद्रनारायणदास

प्रस्तावना

भारतीय विद्वानों के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेद विश्व की प्राचीनतम कृति। वेदों की संख्या चार है, उनमें ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। चारों वेद सामान्यत: मन्त्र और ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त हैं। प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत है। यह **ईशाकेनकठप्रश्नमुण्ड-माण्डूक्यतित्तरिः। ऐतरेयञ्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥**(मुक्ति. उ.) इस वचन के अनुसार उपनिषदों के परिगणन में अष्टम स्थान पर विराजमान है।

स्कन्दपुराण में माहेश्वरखण्ड के अन्तर्गत कौमारिका नामक उपखण्ड में 42 वें अध्याय में नारद और अर्जुन के संवाद में प्रस्तुत उपनिषत् के द्रष्टा ऐतरेय ऋषि के विषय में यह विवरण प्राप्त होता है-हारीत मुनि के वंश में उत्पन्न माण्डूकि नामक एक ऋषि थे। उनकी पत्नी का नाम इतरा था, उससे उत्पन्न महात्मा महीदास ऐतरेय पूर्व जन्म के संस्कारवशात् भगवान् वासुदेव के द्वादश अक्षरात्मक मन्त्र का सदा जप करते हुए मूक जैसे रहते थे, इससे असन्तुष्ट होकर माण्डूकि ने पिङ्गा नामक कन्या के साथ द्वितीय विवाह किया, उससे उनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। यज्ञादिकर्मपरायण और वेदवेदान्तविद्या में पारंगत उन पुत्रों ने अपने माता-पिता को संतुष्ट किया, इससे दुःखी होकर माता इतरा ने अपने पुत्र ऐतरेय के समीप आकर रोषपूर्वक कहा कि तुम्हारे समान पुत्रप्राप्ति की अपेक्षा मेरा बन्ध्या रहना ही उचित होता, तुम तो किसी काम के नहीं। दुर्भाग्य से तुम जैसे शास्त्रज्ञानशून्य पुत्र के कारण अपमानित होकर जीवित रहने की अपेक्षा मेरी मृत्यु ही श्रेयस्कर है, इसलिए मैं सागर में डूब जाऊँगी। तब पुत्र ने मौन छोड़कर माता को मोक्षमार्ग का उपदेश किया, इससे वे संतुष्ट हुईं। इसके पश्चात् स्वप्न में भगवान् वासुदेव से प्रेरित होकर

ऐतरेय हरिमेधस ब्राह्मण के यज्ञ में गये और अपने द्वारा जपे वासुदेवमन्त्र की महिमा से ऐतरेयब्राह्मणमन्त्रों को पढ़कर सभी के द्वारा सम्मानित होकर लोकप्रसिद्धि को प्राप्त हुए। इतरा के पुत्र होने से ये महर्षि ऐतरेय कहलाए और इनके द्वारा साक्षात्कृत मन्त्र भी ऐतरेय संज्ञा को प्राप्त हुए।[1]

आचार्य सायण के द्वारा प्रणीत ऋग्वेदभाष्य की पूर्वपीठिका में उक्त कथा किंचित् प्रकारान्तर से उपलब्ध होती है-महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी इतरा थी। वह निम्न जाति में उत्पन्न हुई थी इसलिए उसे सभी इतरा कहते थे। बाल्यावस्था में जब उसका पुत्र रोता था, तब वह 'दुष्ट मत रो' ऐसा कहती थी, इसके पश्चात् वह मूक जैसा हो गया। उसे अन्य सभी कुछ न करने वाला मानते थे। याज्ञवल्क्य की अन्य पत्नियों से उत्पन्न विद्वान् पुत्र वेद-वेदान्त में पारंगत होकर यज्ञादि कर्म करते हुए अहंकार से मतवाले हो गये। एक बार दूर देश से आये ब्राह्मणों के साथ वे सभी यज्ञादि के लिए गये, तब अन्य के द्वारा वर्णित उनके वैभवादि को सुनकर रुष्ट हुई इतरा ने अपने पुत्र की निन्दा करते हुए 'अरे मूक! तुम कुछ भी नहीं करते, कुछ भी नहीं बोलते, अपने दूसरे भाइयों को देख। मूक के समान शान्त रहना अच्छा नहीं, अरे कुछ तो बोल' इस प्रकार फटकारा। तब ऐतरेय ने कहा कि हे माता! बाल्यावस्था में रोदनकाल में 'मत रोओ, शान्त हो जाओ' इस प्रकार आपने ही आदेश दिया था, उसका पालन करने के लिए मैं मूक जैसा हो गया हूँ, मैं मूक नहीं हूँ। पूर्व जन्म के संस्कारवशात् द्वादश अक्षरात्मक मन्त्र का जप करता रहता हूँ, अभी जा रहा हूँ, ऐसा कहता हुआ वह यज्ञशाला में पहुँच गया, तब वहाँ उपस्थित उसके अन्य भाइयों ने उसे अपमान दृष्टि से देखते हुए कहा कि यह मूर्ख यहाँ क्यों आया है? यह कौन सी ऋचा बोलता

---

1. संस्कृतसंशोधनसंसत् मेलुकोटे द्वारा सन 1997 में प्रकाशित ऐतरेयोपनिषत् (विमर्शात्मक संस्करण) की प्रस्तावना(पृष्ठ 5)से अनूदित।

है? किस यज्ञीय कर्म को करता है? इस प्रकार उसका परिहास किया किन्तु ऐतरेय ने इन बातों पर ध्यान न देते हुए अपने पिता की गोद में बैठने का प्रयास किया किन्तु पिता के द्वारा धक्का देने पर वह मही(भूमि) में गिर पड़ा, तब परम कृपालु माता मही देवी ने भूतल का भेदन करके सहस्रों सूर्यों के समान कान्तिमान मणिमय सिंहासन को यज्ञमण्डप में लाकर और उस पर ऐतरेय को बैठाकर कहा कि तुम्हें भगवदनुग्रह से विना पढ़े ही वेदमन्त्र प्राप्त होंगे, तब उसे यज्ञादिसम्बन्धी मन्त्रभाग और 40 अध्याय वाला आरण्यक साक्षात्कृत हो गया, जो कि ऐतरेय के नाम से ही विख्यात हुआ। इस प्रकार ऐतरेय को मही के द्वारा आसन प्रदान किये जाने से वह महीदास नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह कथा सद्गुरुशिष्यविरचित ऐतरेयब्राह्मण के व्याख्यान में भी उद्धृत है।

श्रीमध्वाचार्यप्रणीत ऐतरेयोपनिषत् के व्याख्यान में यह कथा इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है–ब्रह्मा का पुत्र विशाल था, उसकी पत्नी का नाम इतरा था, उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान् नारायण पुत्ररूप से प्रादुर्भूत हुए। वे एक बार यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए, तब उनके तेज को न सह सकने से देवता और ब्राह्मण सभी के नेत्र चौंधिया गये और वे मूर्च्छित हो गये। इसके पश्चात् ब्रह्मा ने श्रीभगवान् की स्तुति की, तब भगवान् ने वहाँ उपस्थित रुद्र और इन्द्रादि देवताओं को सचेत किया। बड़े बड़े देवता भी इतरापुत्र के दास होने से वे महीदास कहलाए। उन्होंने रमाविषयक ऐतरेय ऋचाओं का उच्चारण किया, इसके पश्चात् बह्वृचों ने ब्रह्मा से उनका अध्ययन किया।

उत्तमूर वीरराघवाचार्य ऐतरेयभूमिका में लिखते हैं कि एक महर्षि की पत्नी का नाम इतरा था, पति उसकी उपेक्षा करके अन्य पत्नियों से बहुत प्रेम करता था। इतरा ने पति के द्वारा अपने पुत्र की भी उपेक्षा देखकर अपनी शक्ति से मही देवी का साक्षात्कार किया

और उसके अनुग्रह से पुत्र को विलक्षण वेदभाग का वेत्ता बना दिया। इस कारण ही इतरा का पुत्र ऐतरेय महीदास नाम से कहा जाने लगा[1]।

ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में 5 आरण्यक हैं, इनमें द्वितीय आरण्यक के अन्तिम तीन अध्याय ऐतरेयोपनिषत् कहलाते हैं, इसमें छः खण्ड होने से तथा आत्मा शब्द से आरम्भ होने से प्रस्तुत उपनिषत् आत्मषट्क नाम से भी अभिहित होती है। वस्तुतः ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय और तृतीय दोनों आरण्यक ऐतरेयोपनिषत् हैं, यह बात सर्वसम्मत है। आचार्य शंकर के द्वारा समग्र उपनिषत् व्याख्यात न होने पर भी विद्यारण्य स्वामी ने समग्र ऐतरेयोपनिषत् का व्याख्यान किया और इनसे भी पूर्व आचार्य आनन्दतीर्थ ने व्याख्यान किया। विद्वानों का कहना है कि प्रस्तुत उपनिषत् का अन्य भाग सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादक है, इसलिए श्रीशंकराचार्य ने उसका व्याख्यान नहीं किया, निर्विशेषपरक भाग का व्याख्यान किया वस्तुतः यह भाग भी सविशेष का ही प्रतिपादक है इसलिए श्रीरंगरामानुजमुनि ने भी इसका व्याख्यान किया।

ऐतरेयोपनिषत् का तात्पर्य

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।(छां.उ.6.2.1) इस छान्दोग्यश्रुति के समान ही **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किंचन् मिषत्।**(ऐ.उ.1.1) इस ऐतरेयश्रुति में परमात्मा की जगत्कारणता का निरूपण किया जाता है। उक्त छान्दोग्यश्रुति में प्रोक्त सत् शब्द सामान्य अर्थ का वाचक है और ऐतरेय में प्रोक्त आत्मा शब्द विशेष अर्थ का। यह उपनिषत् प्रधानता से ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन करती है।

---

1. सुन्दरम् चेरीटेज चेन्नई से सन 1973 में प्रकाशित तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् पृष्ठ 250 से अनूदित।

जगत् की ब्रह्मरूपता

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।(छां.उ.6.2.1) इसका 'आत्मा वै इदम् अग्रे एकः एव आसीत्[1]' इस प्रकार अन्वय होता है। इस श्रुति में वै शब्द अवधारण अर्थ में है और इदम् पद से समक्ष विद्यमान जगत् का ग्रहण होता है। दृश्यमान जगत् परमात्मरूप ही है, यह **आत्मा वा इदम्** का अर्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत श्रुति से जगत् की ब्रह्मरूपता कही जाती है।

सत्कार्यवाद

उक्त श्रुति में अग्रे पद से सृष्टि का पूर्वकाल विवक्षित है। सृष्टि के पूर्व उसकी विद्यमानता न होने से असत्कार्यवाद प्रसक्त होता है, इस शंका का निराकरण करने के लिए श्रुति आसीत् पद का प्रयोग करती है। सृष्टि के पूर्वकाल में जगत् विद्यमान था। वह कार्यरूप से विद्यमान नहीं था, तो किस रूप से विद्यमान था? जगत् पूर्व में कारणरूप से विद्यमान था। आत्मा(परमात्मा) उसका कारण है, इससे कार्य-कारण का अभेद भी सिद्ध होता है।

चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है। प्रस्तुत ऐतरेयश्रुति में एकः पद से सृष्टि के पूर्वकाल में विशेष्य परमात्मस्वरूप के एकत्व का प्रतिपादन करना इष्ट नहीं क्योंकि सृष्टिकाल में भी उसका एकत्व ही है अतः पूर्वकाल में एकत्व का प्रतिपादन मानने से एकः पद की सार्थकता नहीं होती, इस कारण रचे जाने वाले जगत् के बहुत्व का विरोधी एकत्व ही उक्त श्रुति में एकः पद से कहा

---

1. परमात्मरूप ही यह जगत्(है, वह) सृष्टि के पहले एक ही था, यह उक्त श्रुति का अर्थ है। प्रस्तुत ऐतरेयश्रुति में अग्रे पद से पहले एक पद सुनायी देता है अतः **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।** इस छान्दोग्य श्रुति का भी 'सोम्य! सद् एव इदम् अग्रे आसीत्' ऐसा अन्वय करना चाहिए। सद्ब्रह्मरूप जगत् सृष्टि के पूर्व एक ही था, यह श्रुति का अर्थ है, इससे भी जगत् की ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है।

जाता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। वह एकत्व क्या है? सृष्टि के पूर्व में नामरूप के विभाग से रहित चेतनाचेतन विद्यमान होते हैं, नामरूपविभाग के अभाव वाली उनकी अवस्था को एकत्व कहा जाता है, वह चेतनाचेतन के द्वारा परमात्मा में विद्यमान होता है। वह एकत्व अवस्था ही सूक्ष्मावस्था[1] कहलाती है। एकः पद इसी का प्रतिपादन करता है।

सृष्टि के पूर्व ब्रह्म कारणरूप से रहता है, कारणरूप से रहने का अर्थ है-एकरूप से रहना और सृष्टि होने पर कार्यरूप से रहता है, कार्यरूप से रहने का अर्थ है-बहुतरूप से रहना। इस प्रकार परमात्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं-कार्यावस्था और कारणावस्था। नामरूप विभाग से रहित होना ही कारणावस्था वाला होना है और नामरूप विभाग वाला होना ही कार्यावस्था वाला होना है। चेतनाचेतन में रहने वाली वे दोनों अवस्थाएँ चेतनाचेतन के द्वारा ब्रह्म में रहती हैं। नामरूपविभाग से रहित चेतनाचेतन सूक्ष्म कहलाते हैं और उनसे युक्त स्थूल। सूक्ष्म चिदचिद् से विशिष्ट ब्रह्म कारण हैं और स्थूलचिदचिद् से विशिष्ट ब्रह्म कार्य। नामरूपविभाग से रहित(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) ब्रह्म का नामरूपविभाग से युक्त (स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) होना ही जगत्रूप होना है।

अभिन्ननिमित्तोपादान कारण

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् यह श्रुति सृष्टि के पूर्वकाल में एक परमात्मा की विद्यमानता को कहती है, इससे वह जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है। लोक में घटादि कार्यों की उत्पत्ति के

---

1. सृष्टिकाल में प्रकृति की महदादि से लेकर भूत-भौतिक पदार्थपर्यन्त परिणामरूप स्थूलावस्था और चेतन की धर्मभूतज्ञान का विकासरूप स्थूलावस्था होती है अतः सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल में उसकी विरोधी सूक्ष्मावस्था अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

लिए उपादान कारण से अतिरिक्त निमित्तकारण की अपेक्षा होती है। जगत् का उपादान कारण परमात्मा है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंका के समाधान के लिए 'सृष्टि के पूर्व अन्य कोई क्रियाशील नहीं था'-**नान्यत् किंचन् मिषत्**[1]। (ऐ.उ.1.1)यह वाक्य उपस्थित होता है। इससे जगत् का निमित्तकारण भी परमात्मा ही सिद्ध होता है। घट का उपादान कारण जो मृत्पिण्ड है, वह संकल्प का आश्रय न होने से निमित्तकारण नहीं हो सकता इसलिए कार्य की उत्पत्ति के लिए जड़ उपादान कारण अपने से भिन्न निमित्तकारण चेतन की अपेक्षा करता है। उपादानकारण ब्रह्म चेतन है अतः उसे अपने से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म में सब प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं इसलिए वह संकल्पमात्र से अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। कार्यरूप में परिणत होने का सामर्थ्य कुलाल में नहीं है, इसलिए वह केवल निमित्तकारण है, इस प्रकार लोकदृष्ट कार्यों के उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं किन्तु जगत् का उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं है अपितु सकल इतर पदार्थों से विलक्षण ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इसका विस्तार तैत्तिरीयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनीव्याख्या में देखना चाहिए।

श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म के ही सद्भाव का वर्णन करती हैं। सृष्टि के पूर्वकाल में एक परमात्मा ही था-**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**।(ऐ.उ.1.1), **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्**।(छां.उ. 6.2.1), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्**।(बृ.उ.1.4.10) इत्यादि श्रुतियाँ पूर्व में विद्यमान ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती हैं। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म कारणावस्था में पहुँचे हुए सूक्ष्मचेतनाचेतन से

---

1. इस श्रुति के अनन्तर **स ईक्षत। लोकान्नु सृजा इति**।(ऐ.उ.1.1)। यह वचन उपलब्ध होता है, इससे ईक्षण करने वाला और सृष्टि करने वाला **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** इस श्रुति से प्रतिपादित ब्रह्म ही सिद्ध होता है, मायोपाधिक नहीं।

विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टिकाल में कार्यावस्था में पहुँचे हुए स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट बन जाता है। यह स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) ने स्वयं को जगद्(स्थूलचिदचिद्विशिष्ट)रूप में किया-**तदात्मानं स्वयम् अकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति ब्रह्म को ही कारण तथा कार्य कहती है, इससे कार्य जगद्रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाला ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होता है।

निर्विशेषाद्वैतमत

निर्विशेषाद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय इन तीन भेदों(विशेषों) से रहित चिन्मात्र है। सृष्टि के पूर्व यह ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेद से रहित था-**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।**(ऐ.उ.1.1), **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्।**(छां.उ.6.2.1), वृक्ष के शाखा आदि अवयवों का जो वृक्ष में भेद रहता है, उसे स्वगत भेद कहते हैं। वृक्ष का सजातीय वृक्ष होता है। एक वृक्ष में अन्य वृक्ष का जो भेद रहता है, उसे सजातीय भेद कहते हैं। वृक्ष के विजातीय शिला आदि होते हैं। वृक्ष में शिला आदि का जो भेद रहता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं। ब्रह्म का कोई अवयव नहीं होता इसलिए वह स्वगत भेद से रहित है। ब्रह्म के सजातीय कुछ हैं ही नहीं अत: वह सजातीय भेद से रहित है। ब्रह्म से विजातीय असत् पदार्थ हैं ही नहीं, अत: वह विजातीय भेद से भी रहित है।

सविशेषाद्वैतमत

उक्त मत समीचीन नहीं क्योंकि जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या तथा अविद्या का शुद्ध चेतन के साथ सम्बन्ध ये छ: पदार्थ निर्विशेषाद्वैत मत में अनादि माने जाते हैं- 'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योग:

षडस्माकमनादयः॥ श्रुतियों को निर्विशेष अर्थ का बोधक मानने पर **षडस्माकम् अनादयः** यह कथन असिद्ध होगा और छः अनादि पदार्थ मानने पर उक्त श्रुति का निर्विशेषपरक अर्थ असिद्ध होगा। यदि कहना चाहें कि इनमें पाँच अनादि भावपदार्थ मिथ्या हैं, एक निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है। सत्य ब्रह्म का मिथ्या पदार्थ से कोई विरोध नहीं होता, तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर सृष्टि के पूर्वकाल का बोधक श्रुति का 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। निर्विशेषाद्वैती के मत में ब्रह्मेतर पाँच पदार्थ सदा मिथ्या हैं, अतः सृष्टि के पूर्व में उन्हें मिथ्या मानने पर 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। 'अग्रे' पद अविवक्षित है, यह कथन असंगत है क्योंकि आगे सृष्टि का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल को बताने के लिए 'अग्रे' पदका प्रयोग किया गया है अतः कारणत्वप्रतिपादक उक्त श्रुतियों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मस्वरूप से विजातीय कालादि पदार्थ हैं, उसका सजातीय जीवात्मा है तथा सृष्टि के लिए उपयोगी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिरूप स्वगत वस्तुएँ हैं, ये तीनों ब्रह्मस्वरूप से भिन्न हैं अतः वह स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से विशिष्ट होकर ही रहता है। इस प्रकार उक्त छान्दोग्य श्रुति तथा **आत्मा वा** यह प्रस्तुत ऐतरेयश्रुति भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है, अतः भेद के निरसन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है[1]।

निम्न तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों के द्वारा भी ऐतरेयोपनिषत् का

---

1. वेदान्तसिद्धान्त में **एको वशी निष्क्रियाणां बहुनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।**(श्वे.उ.6.12) इत्यादि प्रमाणों के अनुसार सृष्टि के पूर्वकाल में सूक्ष्मावस्था वाले (धर्मभूतज्ञान के विकास से रहित) अनेक चेतन और सूक्ष्मावस्था वाले अचेतन पदार्थ की विद्यमानता स्वीकार की जाती है तथा **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ. 6.8) इत्यादि प्रमाणों से उसका सर्वविषयक ज्ञान और शक्तियाँ भी स्वीकार की जाती हैं।

तात्पर्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म में निश्चित होता है-

तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग

उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः लिङ्गों के द्वारा प्रकरण के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है- **उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥**

1.उपक्रम-उपसंहार

जिस अर्थ के प्रतिपादन में प्रकरण का तात्पर्य होता है, उसी से प्रकरण का उपक्रम(आरम्भ) करते हैं और उसी अर्थ में प्रकरण का उपसंहार(समाप्ति) अतः उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता प्रकरण के तात्पर्यनिर्णय में हेतु मानी जाती है। जैसे **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**(ऐ.उ.1.1) यह उपक्रम वाक्य सत्य सविशेष ब्रह्म की जगत्कारणता का प्रतिपादन करता है और **स एतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना-ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वा-ऽमृतस्समभवत् समभवदिति।**(ऐ.उ.5.4) यह उपसंहार वाक्य इस लोक से अप्राकृतलोक जाकर मुक्त का कल्याणगुणों के सहित ब्रह्म के अनुभव का प्रतिपादन करता है, इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार ये दोनों वाक्य सविशेष अद्वय ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

2.अभ्यास

जिस अर्थ में प्रकरण का तात्पर्य होता है, उसकी बार-बार आवृत्ति को ही अभ्यास नामक लिङ्ग कहा जाता है। **स इमान् लोकानसृजत्।**(ऐ.उ.1.2) **स ईक्षत, इमे नु लोकाः लोकपालान्नु सृजा इति।**(ऐ.उ.1.3) और **तस्मादिदन्द्रो नाम**(ऐ.उ.3.14)इत्यादि रीति से विभिन्न वाक्यों के द्वारा सविशेष ब्रह्म की ही आवृत्ति की गयी है। इससे भी विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म में ही ऐतरेयोपनिषत् का तात्पर्य निश्चित होता है।

3.अपूर्वता

प्रकरण के प्रतिपाद्यविषय की शास्त्र से अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा सिद्धि न होना ही अपूर्वता लिङ्ग कहा जाता है। **स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ँ3**(ऐ.उ.3.13) इस प्रकार प्रस्तुत उपनिषत् में सृष्टिकाल में पुरुष के द्वारा जो व्यापक सविशेष अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार कहा गया है वह अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार अपूर्वता लिङ्ग के द्वारा भी ऐतरेय के प्रतिपाद्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म की ही सिद्धि होती है।

4.फल

प्रतिपाद्य वस्तु को विषय करने वाला फल भी तात्पर्य के निर्णय में हेतु माना जाता है। **स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्**।(ऐ.उ.4.6) इस प्रकार सविशेष ब्रह्म के ज्ञान का फल सकलकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुभवरूप मोक्ष कहा गया है। इससे भी सविशेष ब्रह्म में ही ऐतरेयोपनिषत् के तात्पर्य का निश्चय होता है।

5.अर्थवाद

प्रशंसाबोधक अथवा निन्दाबोधक वाक्य को अर्थवाद कहा जाता है। यह भी प्रतिपाद्य अर्थ के निर्णय में हेतु होता है। **ता एता देवताः सृष्टाः**।(ऐ.उ.2.1) यह वाक्य जगतत्कारण सविशेष ब्रह्म की प्रशंसा का द्योतक है और **गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा**।(ऐ.उ.4.5) यह वाक्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म की प्रशंसा करता है। इनसे भी सविशेष ब्रह्म में ही प्रकरण के तात्पर्य का निश्चय होता है।

6.उपपत्ति

तात्पर्य अर्थ की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये गये तर्क को उपपत्ति कहते हैं। **स इमान् लोकानसृजत**।(ऐ.उ.1.2) यहाँ से लेकर

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।(ऐ.उ.3.12) इत्यादि वाक्यों से विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि में उपपत्ति(तर्क) दी गयी है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपनिषत् का प्रतिपाद्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म ही है। इसमें जगत् की ब्रह्मरूपता, सत्कार्यवाद, अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता, कार्य-कारण का अभेद, सर्वात्मा ब्रह्म, जीव और ब्रह्म में प्राप्य-प्रापकभाव, ब्रह्मवेत्ता का भगवद्धाम जाकर सविशेष ब्रह्म का अनुभवरूप मोक्ष इत्यादि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

ऐतरेयोपनिषत् का सार

प्रस्तुत उपनिषत् के प्रथम खण्ड में यह वर्णित है कि सृष्टि के पूर्वकाल में एक परमात्मा ही था, उसने लोकों की सृष्टि का संकल्प करके उनकी रचना की, इसके पश्चात् लोकपालों की सृष्टि का संकल्प किया और जल से हस्त, पाद आदि अवयवों से युक्त एक शरीर की रचना की, उससे मुखादि इन्द्रियगोलक, इन्द्रियगोलकों से वागादि इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से उनके अग्नि आदि अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुए। द्वितीय खण्ड में यह बताया है कि संसारसागर में पड़े उन लोकपाल देवताओं को परमात्मा ने क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया। तब उन्होंने प्रार्थना की कि हमें कोई शरीर प्रदान किया जाय, जिसमें स्थित होकर हम सभी अन्नभक्षण कर सकें। परमात्मा ने उनके लिए गोशरीर प्रस्तुत किया, किन्तु यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है, ऐसा कहकर देवताओं ने उसे अस्वीकार कर दिया। तत्पश्चात् अश्वशरीर प्रस्तुत करने पर उसे भी अस्वीकार कर दिया। अन्त में परमात्मा ने उनके लिये मानवशरीर प्रस्तुत किया, उसे सभी देवताओं ने सहर्ष अंगीकार कर लिया और परमात्मा की आज्ञा से वे सभी शरीरस्थ इन्द्रियगोलकों में प्रविष्ट हो गये। इसके पश्चात् क्षुधा-पिपासा को देवताओं की हविष् में भागीदार बनाया गया। तृतीय खण्ड में कहा है

कि परमात्मा ने देवताओं के लिए अन्न की रचना की किन्तु वह देवताओं को देखकर भागने लगा, उन्होंने वाक् आदि से अन्न को ग्रहण करने की चेष्टा की किन्तु सफल नहीं हुए। अन्त में देवताओं ने मुखस्थ अपानद्वारा उसे ग्रहण करने में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् परमात्मा ने विचार किया कि पुर के स्वामी मेरे विना देवताओं से अधिष्ठित इन्द्रियों से युक्त यह शरीररूप पुर कैसे रहेगा? जैसे वाग् आदि इन्द्रियों के अधिष्ठातारूप से अग्नि आदि देवताओं ने प्रवेश किया, वैसे ही मैं जीवात्मा के अधिष्ठातारूप से शरीर में प्रवेश करूँ, यह परमात्मा के ईक्षण का अभिप्राय है। शासक होने के कारण उसने श्रेष्ठ स्थान मूर्धा से शरीर में प्रवेश किया। मूर्धाद्वार को विदीर्ण कर परमात्मा का प्रवेश होने से यह द्वार विदृति कहा जाता है। यह द्वार अपने से निकलने वालों को आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से नान्दन नाम से कहा जाता है। जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं वाले जीवात्मा के अन्तरात्मारूप से शरीर में प्रविष्ट परमात्मा के तीन आश्चर्यभूत स्थान कहे गये हैं। जीव ने परमात्मा को देख लिया, इस कारण उसका इदन्द्र नाम कहा जाता है किन्तु देवता परोक्षप्रिय होने के कारण उसका इन्द्र नाम कहते हैं।

संसार से वैराग्य की निष्पत्ति के लिए जीव के जन्मों का वर्णन चतुर्थ खण्ड में किया जाता है। माता के उदर में गर्भरूप से स्थिति संसारी जीव का प्रथम जन्म है। उदर से बाहर आना अर्थात् शिशुरूप से उत्पन्न होना द्वितीय जन्म है। पिता का मरकर पुनः उत्पन्न होना तृतीय जन्म है। पिता पुत्र को अपने से अभिन्न समझता है, इस दृष्टि से पिता के जन्म को पुत्र का जन्म कहा गया है। गर्भ में रहते ही ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ऋषि वामदेव ने कहा था कि मैं पहले लौहमयी शृंखलाओं के समान सैकड़ों शरीरों में बन्दी बनकर रह चुका हूँ किन्तु अब श्येन पक्षी(बाज) के समान बन्धन का नाश कर बाहर आ गया हूँ। इसके पश्चात् उसने प्रारब्धकर्म के अवसान काल

में सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से शरीर से बाहर निकलकर भगवद् धाम जाकर कल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त किया। इसके उपरान्त पंचम खण्ड में यह कहा गया है कि जिससे सामर्थ्य पाकर चक्षु आदि करण ज्ञाता आत्मा के दर्शन आदि के साधन होते हैं, वह सभी का प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमात्मा है। ज्ञाता आत्मा के आश्रित रहने वाला धर्मभूत ज्ञान ही संज्ञानादिरूप कहा गया है। चक्षु आदि तथा संज्ञानादि सभी ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्मा, इन्द्रादि देवता, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज् और स्वदेज ये सभी ब्रह्मात्मक हैं। सभी का आत्मा ब्रह्म है। सकलेतर से विलक्षण सभी का आधार और सभी का अन्तरात्मा ब्रह्म है, वही हम सभी का उपास्य है।

तैत्तिरीयोपनिषद् की तत्त्वविवेचनीव्याख्यालेखन के पश्चात् पूज्य गुरुदेव, भगवती भागीरथी गङ्गामाता, पराम्बा श्रीसीतामाता और भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र के अहेतुक अनुग्रह से प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् का व्याख्यालेखन सम्पन्न हुआ। इस कार्य में मुझे विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के सभी सम्मान्य पूर्वाचार्यों की संस्कृत व्याख्याओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये मैं उन सभी का चिरकृतज्ञ हूँ।

स्वामी त्रिभुवनदास

होलिकोत्सव
चैतन्यमहाप्रभुजयन्ती
वि.सं.2073

मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन
स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड, पिन-249304
चलवाणी-8057825137
(रात्रि 8-9)

विषयानुक्रमणिका

ऐतरेयोपनिषत्

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अथ प्रथमः खण्डः

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्।। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।1।।

स इमाँल्लोकानसृजत् अम्भो मरीचीर्मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवम्, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, या अधस्तात् ता आपः।।2।।

स ईक्षत, इमे नु लोकाः लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्।। 3।।

तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्। मुखात् वाक्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येताम्, नासिकाभ्यां प्राणः प्राणात् वायुः। अक्षिणी निरभिद्येताम्, अक्षीभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येताम्, कर्णाभ्यां श्रोत्रम्, श्रोत्रात् दिशः। त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत, हृदयात् मनः, मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानः, अपानात् मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतः, रेतस आपः।।

।। इति प्रथमः खण्डः ।।

अथ द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनाया-पिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्। आयतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति।।1।।

ताभ्यो गामानयत्। ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति1। ताभ्योऽश्वमानयत्। ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति।।2।।

ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन्, सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद् यथायतनं प्रविशतेति।।3।।

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशश्श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।।4।।

तमशनायापिपासे अब्रूताम्, आवाभ्यां अधि प्रजानीहि इति। स ते अब्रवीत्, एतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमि इति। तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते, भागिन्यावेवा-स्यामशनायापिपासे भवतः।।5।।

।। इति द्वितीयः खण्डः ।।

अथ तृतीयः खण्डः

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्नमेभ्यस्सृजा इति।।1।।

सोऽपोऽभ्यतपत्। ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायत, अन्नं वै तत्।।2।।

तदेतदभिसृष्टं सत् पराङत्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यत्, अभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।3।।

तत् प्राणेनाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्

प्राणेनाग्रहैष्यत्, अभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।4।।

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यत्, दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।5।।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यत्, श्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।6।।

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्टा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।7।।

तन्मनसाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसा-ऽग्रहैष्यत्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।8।।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यत्, विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।9।।

तदपानेनाजिघृक्षत्। तदावयत्। यद्वायुः स एषोऽन्नस्य ग्रहो अन्नायुर्वा एष यद्वायुः।।10।।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतम्, यदि प्राणेनाऽभिप्राणितम्, यदि चक्षुषा दृष्टम्, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्, यदि त्वचा स्पृष्टम्, यदि मनसा ध्यातम्, यद्यपानेनाऽभ्यपानितम्, यदि शिश्नेन विसृष्टम्, अथ कोऽहमिति।

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथाः, त्रयः स्वप्नाः, अयम् आवसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति।।12।।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्। किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ँ3।।13।।

तस्मादिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।14।।

।। इति तृतीयः खण्डः ।।

अथ चतुर्थः खण्डः

पुरुषे ह वा अयम् आदितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथैतज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म।।1।।

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गम् तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानं अत्र गतं भावयति।।2।।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रे अधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि भावयत्यात्मानमेव तद् भावयत्येषां लोकानां संतत्या एवं संतता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ।।3।।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति; स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।।4।।

तदुक्तमृषिणा-

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध[2] श्येनो जवसा निरदीयमिति।
गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच।।5।।

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदाद् ऊर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्।।6।।

।। इति चतुर्थः खण्डः ।।

अथ पञ्चमः खण्डः

कोयमात्मेति वयमुपास्महे? कतरः स आत्मा? येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति[1], येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति, यद् एतदधृदयं मनश्चैतत्।।1।।

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टि: धृतिर्मति: मनीषा जूति: स्मृति: संकल्प: क्रतुरसु: कामो वश इति। सर्वाण्यैवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।।2।।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वांयुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गाव: पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम्, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक: प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।।3।।

स एतनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतस्समभवत् समभवदिति।।4।।

।। इति पञ्चम: खण्ड: ।।

अथ षष्ठ: खण्ड:

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणी स्थ:। श्रुतं मे मा प्रहासी:। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। अवतु वक्तारम्।। ओं शान्ति: शान्ति: शान्ति:।।

।। इति षष्ठ: खण्ड: ।।

।। इति ऐतरेयोपनिषत् ।।

ऐतरेयोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीतारामं नमाम्यहम्।।1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः।।2।।
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
ऐतरेयकमन्त्राणां कुर्वे व्याख्यां यथामति।।3।।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। अवतु वक्तारम्।। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वय

ॐ मे वाक् मनसि प्रतिष्ठिता। मे मनः वाचि प्रतिष्ठितम्। आविः मे आविः एधि। मे वेदस्य आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तत् माम् अवतु। तत् वक्तारम् अवतु। माम् अवतु। वक्तारम् अवतु। वक्तारम् अवतु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अर्थ

ॐ-हे परमात्मन्! मे-मेरी **वाक्**-वाक् इन्द्रिय **मनसि**-मन में

प्रतिष्ठिता-स्थित हो। **मे**-मेरा **मनः**-मन **वाचि**-वाणी में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित हो। **आविः**-हे स्वयंप्रकाश ब्रह्म! तुम **मे**-मेरे लिए **आविः**-आविर्भूत **एधि**-हो। **मे**-मेरे लिए **वेदस्य**-वेद के रहस्य भाग को **आणी**-लाने वाले **स्थः**-हो। **श्रुतम्**-सुना हुआ शास्त्र **मे**-मेरा **मा**-नहीं **प्रहासीः**-त्याग करे। **अनेन**-इस **अधीतेन**-पढ़े हुए शास्त्र से **अहोरात्रान्**-दिन-रात को **संदधामि**-एक कर दूँ। मैं **ऋतम्**-ऋत **वदिष्यामि**-बोलूँगा। मैं **सत्यम्**-सत्य **वदिष्यामि**-बोलूँगा। **तद्**-वह परमात्मा **माम्**-मेरी(मुझ अध्येता की) **अवतु**-रक्षा करे। **तद्**-वह परमात्मा **वक्तारम्**-आचार्य की **अवतु**-रक्षा करे। **माम्**-मेरी **अवतु**-रक्षा करे। **वक्तारम्**-आचार्य की **अवतु**-रक्षा करे। **वक्तारम्**-आचार्य की **अवतु**-रक्षा करे। ॐ **शान्तिः शान्तिः शान्तिः**-सभी विघ्नों की शान्ति हो।

व्याख्या

मेरी वाणी मन में स्थित हो जाये अर्थात् वाक् इन्द्रिय मन से विचारित विषय को ही व्यक्त करे और मन वाणी में स्थित हो जाए अर्थात् वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने योग्य ब्रह्मप्रतिपादक वचनों का ही मन चिन्तन करे। मन और वाणी दोनों का विषय एक ही होना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि वाणी से शास्त्र का पाठ करता रहूँ और मन दूसरे विषय का चिन्तन करता रहे या मन में जो भाव रहे, उससे भिन्न को वाणी से व्यक्त करूँ। मन से कुछ सोचना, उससे भिन्न को वाणी से बोलना और उससे विपरीत आचरण करना, ये दुरात्माओं के लक्षण हैं, वे हम सभी में न हों, इसके लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना की जाती है। हे स्वयंप्रकाश, स्वेतरसमस्तविलक्षण, निरतिशय आनन्दरूप सर्वात्मा ब्रह्म! तुम मेरे लिए प्रकट हो जाओ। मन और वाणी से एक होकर साधना करने पर परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। परमात्मा के प्रत्यक्ष होने की प्रार्थना करके अब प्रत्यक्ष के साधन वेदान्तशास्त्र का वर्णन किया जाता है-परमात्मा मेरे लिए स्वस्वरूप का प्रतिपादक वेद के उपनिषद्भाग को लाने वाले हैं अर्थात् आचार्यरूप से वेदान्तशास्त्र

का श्रवण कराने वाले हैं। गुरुमुख से अधीत शास्त्र मुझे विस्मृत न हो और इससे रात-दिन को एक कर दूँ अर्थात् इस शास्त्र का रात-दिन मनन करता रहूँ। जिससे मनन की दृढता होने पर निदिध्यासन का आरम्भ हो सके।

ऋत और सत्य शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। अबाधित अर्थ का बोधक वचन सत्य कहलाता है और वही ऋत कहलाता है किन्तु प्रस्तुत शान्तिपाठ में दोनों शब्दों का युगपद् प्रयोग होने से पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होता है, इसकी निवृत्ति के लिए ऋत का अर्थ अपभ्रंश का अभावरूप शब्द की सत्यता और सत्य का अर्थ यथावस्थित अर्थ का कथन(रूप अर्थ की सत्यता) किया जाता है-**ऋतत्वम् अपभ्रंशराहित्यलक्षणं शब्दसत्यत्वम्। सत्यत्वञ्च यथावस्थितार्थकथनरूपमर्थसत्यत्वमिति न पौनरुक्त्यम्।** (तै.उ.रं.भा.)। अपभ्रंश का अर्थ है-अशुद्धि, यह भी दोष है। इसका अभावरूप होती है-शब्द की सत्यता। अशुद्ध शब्द को बोलना भी असत्य बोलना है और अशुद्धि से रहित शब्द को बोलना ऋत बोलना कहलाता है। ब्राह्मण को अपभाषण नहीं करना चाहिए। जो अशुद्ध शब्द का प्रयोग है, वह अपभाषण ही है-**ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।**(म.भा.प.) इस प्रकार महाभाष्यकार ने भी अशुद्धभाषण करने का निषेध किया है, जिससे ऋतभाषण की कर्तव्यता सिद्ध होती है। जो पदार्थ प्रमाण से जैसा ज्ञात होता है, उसे विना परिवर्तन के वैसा ही बोलना सत्य बोलना है। मैं ऋत(सत्य संस्कृत) शब्द को बोलूँगा और सत्य अर्थ को प्रकट करूँगा, यह **ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि** का तात्पर्य है। ब्रह्म विघ्नों से मेरी रक्षा करे और मेरे आचार्य की रक्षा करे, इस विषय में अत्यन्त आदर होने के कारण इसकी आवृत्ति की जाती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन सभी विघ्नों की निवृत्ति के लिए तीन बार शान्ति कही जाती है।

भोग्य, भोगस्थान तथा भोगोपकरणरूप सकल अचेतन पदार्थों से विलक्षण प्रत्यगात्मा और उसके आत्मभूत परमात्मा के स्वरूप का बोध कराने के लिए तथा इन्द्रादि पदों को भी हेय बताने के लिए ऐतरेयोपनिषत् आरम्भ की जाती है–

अथ प्रथमः खण्डः

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्॥ स ईक्षत[1] लोकान्नु सृजा इति॥1॥

अन्वय

इदम् अग्रे एकः वै आत्मा एव आसीत्। अन्यत् किञ्चन मिषत् न। नु लोकान् सृजै इति सः ईक्षत।

अर्थ

इदम्-प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् **अग्रे**-सृष्टि के पूर्व काल में **एकः**-एक **वै**-प्रसिद्ध **आत्मा**[2]-परमात्मा **एव**-ही **आसीत्**[3]-था। उससे **अन्यत्**-अतिरिक्त **किञ्चन**-कुछ(भी) **मिषत्**-व्यापार वाला **न**-नहीं था। मैं **नु**-निश्चय ही **लोकान्**-लोकों की **सृजै**-रचना करूँ **इति**-ऐसा **सः**-उस परमात्मा ने **ईक्षत**-संकल्प किया।

व्याख्या

जगत्

श्रुति में आया इदम् पद प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले चेतनाचेतनात्मक

---

1. ईक्षतेत्याडभावश्छान्दसः।(रं.भा.)।
2. सृष्टि के पूर्व जगत्कारण परमात्मा विद्यमान होने से जगत् का उपादान कारण प्रधान को मानने वाला सांख्यमत निरस्त हो जाता है। श्रुति स्वयं जगत् का कारण परमात्मा को कहती है अतः अनुमानप्रमाण से सिद्ध प्रधान को कारण मानना व्यर्थ है।
3. आसीत् पद के प्रयोग से असत्कार्यवादी नैयायिकवैशेषिकमत का निराकरण हो जाता है, उनके अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पूर्व रहता ही नहीं किन्तु यह श्रुति उत्पत्ति के पूर्व जगत् कार्य की विद्यमानता को कहती है।

जगत् का बोधक है। यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में था? या नहीं? इसके उत्तर में श्रुति आसीत् कहती है। जगत् पहले था, वह किस रूप में था? इसके उत्तर में श्रुति आत्मा कहती है। जैसे घटादि पदार्थ उत्पत्ति से पहले मिट्टीरूप से रहते हैं, वैसे ही जगत् उत्पत्ति से पहले आत्मारूप से रहता है। जगत् कार्य है। इसका अर्थ है- नामरूपविभाग से युक्त ब्रह्म अर्थात् स्थूलचिदचिद् से विशिष्ट ब्रह्म। आत्मा कारण है, इसका अर्थ है-नामरूपविभाग से रहित ब्रह्म अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद् से विशिष्ट ब्रह्म। इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्त में कार्य और कारण सब कुछ ब्रह्म ही माना जाता है।

आत्मा

परमात्मा सबकी आत्मा है। **अत सातत्यगमने** इस धातु से **सातिभ्यां मनिन्मनिणौ**(उ.सू.4.154) सूत्रद्वारा कर्ता में मनिण् प्रत्यय करने पर आत्मा शब्द की सिद्धि होती है तथा **आप्लृ व्याप्तौ** इस धातु से भी **उणादयो बहुलम्**(अ.सू.3.3.1) सूत्रद्वारा कर्ता में मनिण् प्रत्यय तथा पकार को तकार आदेश करने पर आत्मा शब्द की सिद्धि होती है। जो सबको व्याप्त करता है, जो ग्रहण करता है, जो जगद्रूप विषय का संहार करता है और जो इसकी सदा विद्यमानता है, उस कारण उसे आत्मा कहा जाता है- **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह। यच्चास्य संततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते।**(लिं.पु.70.16), अब इसका ही क्रमिक व्याख्यान प्रस्तुत किया जाता है-

जो सभी को स्वरूपतः तथा ज्ञानगुणरूप शक्ति के द्वारा व्याप्त करता है, उस सर्वव्यापक को आत्मा कहा जाता है-**आप्नोति व्याप्नोति सर्वम् इत्यात्मा स्वज्ञानशक्तया स्वरूपतश्च सर्वव्यापकः।** (ऐ.उ.आ.भा.)। परमात्मस्वरूप व्यापक है और उसका ज्ञान गुण भी व्यापक है। सबको ग्रहण करने वाला परब्रह्म आत्मा कहा जाता है। यहाँ पर अव्याकृत(सूक्ष्म अर्थात् नामरूपविभाग से रहित चेतनाचेतन) को नामरूपात्मक करने के लिए ग्रहण करना ही आदान करना है-

आदत्ते वा सर्वम् इति आत्मा। आदानम् इह अव्याकृतेभ्यः नामरूपकरणाय ग्रहणम्।(ऐ.उ.आ.भा.)। सम्पूर्ण जगत् का संहार करता है, इसलिए सभी जगत् के संहारकर्ता परब्रह्म को आत्मा कहा जाता है-**अत्ति सर्व जगत् इति आत्मा सर्वसंहरणकर्ता इति।** (ऐ.उ. आ.भा.), सदा विद्यमान रहने वाले को और भक्तपरित्राण के लिए सदा अवतरित होने वाले परब्रह्म को आत्मा कहा जाता है-**अतति सततमस्ति, नित्य इति सर्वदा रक्षणाय अवतरति वा इति आत्मा परमात्मा**(ऐ.उ.भा.प.)।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्(ब्र.सू.1.2.11) इस सूत्र के अनुसार वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा शब्द का जीव और परमात्मा दोनों अर्थों में समान प्रयोग देखा जाता है, फिर भी वह परमात्मा अर्थ में ही अत्यन्त मुख्य है, जीव अर्थ में तो मुख्य के समान है, लाक्षणिक नहीं है। अन्यमतानुसार 'मृदात्मक घट है' इत्यादि प्रयोगों के अनुसार आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है। इस विषय में वेदान्त सिद्धान्त का अभिप्राय इस प्रकार है-जैसे गो शब्द अनेक अर्थों का वाचक होने पर भी सास्नादि वाले प्राणी में ही उसकी प्रसिद्धि होती है, वैसे ही आत्मा शब्द शरीर से सम्बन्ध रखने वाले चेतन में ही प्रसिद्ध है।

आत्मा शब्द व्याप्त करने वाले सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है अपितु व्याप्त करने वाले विशेष अर्थ का वाचक है क्योंकि योगरूढ है। व्याप्त करने वाले आकाश आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं होता अतः यह नियन्तारूप से व्याप्त करने वाले विशेष अर्थ का वाचक है- **आत्मशब्दः न व्याप्तृमात्रवाची किन्तु व्याप्तृविशेषवाची, योगरूढत्वात् न हि गगनादिषु आत्मशब्दप्रयोगः। अतः नियन्तृरूप-व्याप्तृविशेषवाचीत्यर्थः।**(श्रु.प्र.1.3.1) इस प्रकार अपने से भिन्न सभी के नियन्तारूप से परमात्मा की ही सभी पदार्थों में व्याप्ति संभव होती है इसलिए आत्मा शब्द की परमात्मा में ही मुख्यवृत्ति होती है। आत्मा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का एक भाग तद्तद्शरीरमात्र का नियमन जीवात्मा में होने से जीवात्मा में आत्मा शब्द का प्रयोग मुख्य

के समान होता है। 'गंगायां घोषः' इस प्रयोग के समान प्रवृत्तिनिमित्त का पूर्णतः त्याग न होने से जीवात्मा में आत्मा शब्द की लक्षणा नहीं होती। सर्वात्मा परब्रह्म सभी के अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करता है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3.11.3) यह श्रुति स्वयं 'अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला'-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता** इस प्रकार सर्वात्मा शब्द का व्याख्यान करती है। आत्मा शब्द का सबके अन्दर प्रवेश करके नियमन करना अर्थात् सर्वान्तः प्रविश्य नियन्तृत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त है। इसकी पूर्णता परमात्मा में ही होती है, इसलिए आत्मा शब्द अत्यन्त मुख्यरूप से परमात्मा में ही प्रयुक्त होता है। जैसे-सृष्टि के पूर्वकाल में यह एक आत्मा ही था-**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।**(ऐ.उ.1.1) आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ-**आत्मन आकाशः संभूतः।**(तै.उ.2.1.2)।

प्रस्तुत ऐतरेयश्रुति में आया आत्मा शब्द जगत्कारणत्व प्रसंग में होने से जगत्कारण होने के लिए उपयोगी गुणों से विशिष्ट तथा प्रकृतिपुरुषकालशरीरक परमात्मा का बोध कराता है। श्रुति **स ईक्षत, लोकान्नु सृजा इति।**(ऐ.उ.1.1), **स इमाँल्लोकानसृजत्।** (ऐ.उ.1.2) इत्यादि रीति से परमात्मा के संकल्प तथा जगत् की सृष्टि का वर्णन करती है। परमात्मा सर्वज्ञ होने से सत्यसंकल्प करता है और सर्वशक्तिमान् होने से बहुत रूपवाला जगत् हो जाता है। इस प्रकार आत्मा शब्द से कहा गया परब्रह्म सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व गुणों से विशिष्ट सिद्ध होता है। जो चेतन जीव मुक्त नहीं हुए हैं, वे तथा अचेतन प्रकृति सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होकर सृष्टि के पूर्वकाल में विद्यमान रहती है। नामरूपविभाग के अभाव वाले इन सूक्ष्म चेतनाचेतन से विशिष्ट जगत्कारण परमात्मा ही प्रस्तुत श्रुति में आत्मा शब्द से कहा गया है।

उपनिषदों के भेदप्रतिपादक[1] वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि चेतन,

---

1. भोक्ता जीव, भोग्य जड़ पदार्थ तथा प्रेरक परमात्मा को जानकर मैंने सम्पूर्ण त्रिविध ब्रह्म को बता दिया- **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं**

अचेतन और परमात्मा ये तीन पदार्थ हैं। घटक[1] श्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि चेतन और अचेतन तत्त्व परमात्मा के शरीर हैं। परमात्मा उनकी आत्मा है। इस प्रकार चेतनाऽचेतनात्मक जगत् और परमात्मा में शरीरात्मभावसम्बन्ध है। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् परमात्मा पर आधारित है, उसके नियमन में रहनेवाला है और उसके लिए ही है, इसलिए जगत् परमात्मा का शरीर है। परमात्मा उसका आधार, नियामक और स्वामी है अतः वह सबकी आत्मा है।

त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।(श्वे.उ.1.12), जीव का अन्तर्यामी होकर रहना, जड पदार्थ का अन्तर्यामी होकर रहना तथा स्वस्वरूप से भी रहना, यही ब्रह्म की त्रिविधता है। जीवात्मा और प्रेरक परमात्मा को अलग-अलग पदार्थ समझ कर साधक परमात्मा की प्रीति का विषय बनता है तथा बाद में उस भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है-**पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति**। (श्वे. उ.1.6), ईश्वर प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी एवं ज्ञानादि छः गुणों से पूर्ण है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**।(श्वे.उ.6.16), जन्म न लेने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर और दूसरा उससे भिन्न जीव है, ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु जीव अज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ है-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**(श्वे.उ.1.9), समान गुण वाले और साथ रहने वाले जीवात्मा और परमात्मरूप दो पक्षी हैं-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(मु.उ.3.1.1) इत्यादि श्रुतियाँ जगत् और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करती हैं।

1. लोक में देखा जाता है कि जब दो पक्ष आपस में विवाद करते हैं तब कुछ मध्यस्थ पुरुष आकर परस्पर में समझौता कराते हैं, इन्हें घटक पुरुष कहा जाता है। इसी प्रकार उपनिषत् में भी कुछ ऐसे श्रुति वाक्य हैं, जो भेदप्रतिपादक और अभेदप्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यों में समन्वय स्थापित करते हैं, इन्हें ही घटक श्रुति कहते हैं। जैसे-**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ. 3.11.3) अर्थात ईश्वर सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला सर्वात्मा है तथा बृहदारण्यक(3.7) के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के अन्दर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा है-**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति**।(बृ.उ.3.7.7)यहाँ से आरम्भ करके

निर्विशेषाद्वैतमत

निर्विशेषाद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय इन तीन भेदों(विशेषों) से रहित चिन्मात्र है। हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व में यह ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेद से रहित था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**।(छां.उ.6.2.1) वृक्ष के शाखा आदि अवयवों का जो वृक्ष में भेद रहता है, उसे स्वगत भेद कहते हैं। वृक्ष का सजातीय वृक्ष होता है। एक वृक्ष में अन्य वृक्ष का जो भेद रहता है, उसे सजातीय भेद कहते हैं। वृक्ष के विजातीय शिला आदि होते हैं। वृक्ष में शिला आदि का जो भेद रहता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं। ब्रह्म का कोई अवयव नहीं होता है इसलिए वह स्वगत भेद से रहित है। सत् ब्रह्म का सजातीय कुछ है ही नहीं अतः वह सजातीय भेद से रहित है। ब्रह्म से विजातीय असत् पदार्थ है ही नहीं अतः वह विजातीय भेद से भी रहित है।

सविशेषाद्वैतमत

उक्त मत समीचीन नहीं है क्योंकि जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या तथा अविद्या का शुद्धचेतन के साथ सम्बन्ध ये छः पदार्थ निर्विशेषाद्वैत मत में अनादि माने जाते हैं-**जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः**

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति।(बृ.उ.3.7.26)यहाँ तक शरीरात्मभावसम्बन्ध बताया गया है। यहाँ पर विज्ञान शब्द से जीवात्मा लिया गया है क्योंकि माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान में आत्मशब्द का उल्लेख है, जो इस प्रकार है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**। (बृ.उ.मा.पा. 3.7.26)अर्थात् जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के अन्दर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारा परम भोग्य अन्तरात्मा है।

षडस्माकमनादयः॥ आत्मा वा इदमेक एव(ऐ.उ.1.1) और **सदेव** (छां.उ.6.2.1) श्रुति को निर्विशेष अर्थ का बोधक मानने पर **षडस्माकम् अनादयः** यह कथन असिद्ध होगा और छः अनादि मानने पर उक्त श्रुति का निर्विशेषपरक अर्थ असिद्ध होगा। यदि कहना चाहें कि इनमें पाँच अनादि भावपदार्थ मिथ्या हैं, एक निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है। सत्य ब्रह्म का मिथ्या पदार्थ से कोई विरोध नहीं होता तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर सृष्टि के पूर्वकाल का बोधक श्रुति का 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। शंकाकार के मत में ब्रह्मेतर पाँच पदार्थ सदा मिथ्या हैं, अतः सृष्टि के पूर्वमें उन्हें मिथ्या माननेपर 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। 'अग्रे' पद अविवक्षित है, यह कथन असंगत है क्योंकि आगे सृष्टि का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल को बताने के लिए 'अग्रे' पदका प्रयोग किया गया है अतः कारणत्वप्रतिपादक इस वाक्य से सिद्ध होता है कि ब्रह्मस्वरूप से विजातीय कालादि पदार्थ हैं, उसका सजातीय जीवात्मा है तथा सृष्टि के लिए उपयोगी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिरूप स्वगत वस्तुएँ हैं, ये तीनों ब्रह्मस्वरूप से भिन्न हैं अतः वह स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से विशिष्ट होकर ही रहता है। इस प्रकार उक्त छान्दोग्य श्रुति तथा **आत्मा वा** यह प्रस्तुत ऐतरेयश्रुति भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है, अतः भेद के निरसन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है।

श्रीशंकराचार्य ने **सदेव**(छां.उ.6.2.1) इस श्रुति के भाष्य में एकमेव का अर्थ कार्य कोटि में आनेवाली द्वितीय वस्तु का अभाव-**स्वकार्यपतितम् अन्यन्नास्ति** किया है और अद्वितीयम् पदका अर्थ निमित्तकारणान्तर का अभाव किया है। इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार उक्त श्रुतियों से विशेष का निषेध नहीं होता। विशेष का निषेध तो शांकरमत के परवर्ती आचार्यो के अनुसार है। यहाँ उसी का निराकरण जानना चाहिए।

सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी इस परमात्मा की स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। स्वाभाविक सर्वविषयक ज्ञान, जगत् को धारण करने का सामर्थ्य और जगत् का नियमनरूप कार्य विविध प्रकार का सुना जाता है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8)। जिस प्रकार अग्नि विलक्षण वस्तु होने के कारण जल आदि में न दीखने वाली उष्णता उसमें स्वाभाविक होती है, उसी प्रकार परब्रह्म सबसे विलक्षण वस्तु होने के कारण अन्य किसी में भी न दीखने वाली सर्वशक्तियाँ उसमें स्वाभाविक होती हैं। परमात्मा अव्याहत संकल्पवाला है- **सत्यसंकल्पः।** (छां.उ.8.1.5) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म में शक्ति, ज्ञान बल, नियामकत्व तथा सत्यसंकल्पत्व आदि गुणों का प्रतिपादन करती हैं। परमात्मा साक्षी-साक्षात् द्रष्टा, चेता-जगत् का निर्माता है, निर्गुण-गुणत्रय के वश में नहीं रहता है, इसलिए तथा उसका फलेच्छापूर्वक कर्तृत्व न होने से केवल अर्थात् उदासीन है-**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।**(श्वे.उ.6.11), परमात्मा अवयवरहित है, कृतकृत्य है तथा क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन छः उर्मियों से रहित है। शरणागत को आश्रय न देना आदि दोषों से रहित है तथा असंग स्वभाव वाला है-**निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।**(श्वे. उ.6.19) इस विवरण से स्पष्ट है कि परमात्मा प्राकृत हेय गुणों से रहित है और अलौकिक कल्याणगुणगणों से युक्त है, इसके विस्तार के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ देखना चाहिए।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण

जगत् का उपादान और निमित्त कारण एक परमात्मा ही है। लोक में घटादि कार्यों के उपादानकारण और निमित्तकारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। जैसे-घट का उपादान कारण मृत्तिका होती है और निमित्त कारण कुलाल होता है। पट का उपादानकारण तन्तु होते हैं और निमित्तकारण तन्तुवाय किन्तु जगत् के उपादान और निमित्तकारण

दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का अर्थ उपादान कारण और निमित्त कारण की एकता नहीं है किन्तु उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व के आश्रय की एकता है। लोकदृष्ट कार्यों के उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं किन्तु जगत् का उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं है। श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म के ही सद्भाव का वर्णन करती हैं। सृष्टि के पूर्वकाल में एक परमात्मा ही था-**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।**(ऐ उ.1.1), **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्।**(छां.उ.6.2.1), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्।**(बृ.उ.1.4.10) इत्यादि श्रुतियाँ पूर्व में विद्यमान ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती हैं। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म कारणावस्था में पहुँचे हुए सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टिकाल में कार्यावस्थामें पहुँचे हुए स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट बन जाता है। यह स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) ने स्वयं को जगद्(स्थूलचिदचिद्विशिष्ट) रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति ब्रह्म को ही कारण तथा कार्य कहती है। इससे कार्य जगद्रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाला ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होता है।

'हे सोम्य! प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में निमित्तान्तर से रहित एक सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्** यह श्रुति 'इदम्' पद से जगत् का निर्देश करती है। जगत्=नामरूप के विभाग से युक्त बहुत्व[1] अवस्थावाला स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म। एकम्=नामरूप के विभाग से रहित एकत्व[2]

---

1. पृथक्-पृथक् नामरूप होने से यह जगत् बहुत्व अवस्थावाला कहलाता है।
2. यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में नामरूपविभाग न होने से एकत्व अवस्था वाला कहलाता है।

अवस्थावाला सूक्ष्म चिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्म। नामरूप के विभाग वाली अवस्था स्थूलावस्था कही जाती है। सृष्टि के पूर्व में नामरूप का विभाग न होने से एकत्व अवस्था होती है। एकमेव पद से नामरूपविभाग से रहित ब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत्(सूक्ष्मचिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्म) ही था। इससे एकत्व अवस्था वाला सद् उपादानकारण तथा बहुत्व अवस्था वाला जगत् कार्य सिद्ध होता है। लोक में घट कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण से अतिरिक्त निमित्तकारण की अपेक्षा होती है। यहाँ पर सद् वस्तु उपादान कारण है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंका के समाधान के लिए 'अद्वितीयम्' पद कहा गया है। इसका भाव यह है कि जगत् का निमित्तकारण भी सद् ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। उपादान कारण जो मृत्पिण्ड है, वह संकल्प का आश्रय न होनेसे निमित्तकारण नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के लिए जड़ उपादान कारण अपने से भिन्न निमित्तकारण चेतन की अपेक्षा करते हैं। उपादानकारण ब्रह्म चेतन है। अत: उसे अपने से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म में सब प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं, इसलिए वह संकल्पमात्र से अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। कार्यरूप में परिणत होने का सामर्थ्य कुलाल में नहीं है, इसलिए वह केवल निमित्तकारण है। इस प्रकार सकल इतर पदार्थों से विलक्षण ब्रह्म जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इसका विस्तार तैत्तिरीयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनीव्याख्या में देखना चाहिए।

परमात्मा का सामर्थ्य

परमात्मा ने संकल्प किया-**स ईक्षत** इस प्रकार सृष्टि से पूर्व संकल्पात्मक व्यापार वाला परमात्मा ही सिद्ध होता है, उससे भिन्न कोई वस्तु व्यापार वाली नहीं थी-**नान्यत् किञ्चन् मिषत्** यह श्रुति व्यापारविशिष्टत्वेन परमात्मव्यतिरिक्त वस्तु का निषेध करती है, व्यापाररहितत्वेन विद्यमान नामरूपव्यापार के अभाव वाले सूक्ष्म चेतन

– अचेतन की विद्यमानता का निषेध नहीं करती। करणकलेवर(देहेन्द्रिय के विना ब्रह्मा और इन्द्रादि देवता भी कुछ करने में समर्थ नहीं हो सकते। भगवान् सृष्टि करके जब उन्हें देह-इन्द्रिय प्रदान करते हैं, तब ब्रह्मा व्यष्टिसृष्टिरूप व्यापार और इन्द्र त्रिलोक का पालनरूप व्यापार करते हैं। परमात्मा को जगत् की सृष्टि आदि कार्य करने के लिए देहेन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती, वह संकल्पमात्र से इन सभी कार्यों को करता है, उसके संकल्प भी इन्द्रियनिरपेक्ष होते हैं। उसने लोकों की रचना का संकल्प किया।

अब सृज्यमान लोकों का वर्णन किया जाता है–

स इमाँल्लोकानसृजत् अम्भो मरीचीर्मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवम्, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, या अधस्तात् ता आपः॥2॥

अन्वय

सः अम्भः मरीचीः मरम् आपः इमान् लोकान् असृजत्। दिवं परेण प्रतिष्ठा द्यौः अदः अम्भः। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। अधस्तात् याः, ताः आपः।

अर्थ

सः-परमात्मा ने **अम्भः**-अम्भ **मरीचीः**-मरीचि **मरम्**-मर (और) **आपः**-अप् **इमान्**-इन सभी **लोकान्**-लोकों की **असृजत्**-रचना की। **दिवम्**-स्वर्गलोक से **परेण**-ऊपर के लोक (और उनका) **प्रतिष्ठा**-आधारभूत **द्यौः**-स्वर्गलोक **अदः**-ये सभी **अम्भः**-अम्भ 'अम्भ' नाम से कहे जाते हैं। **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष लोक को **मरीचयः**-मरीचि कहा जाता है। **पृथिवी**-पृथ्वीलोक **मरः**-मर कहलाता है। पृथ्वी के **अधस्तात्**-नीचे के **याः**-जो लोक हैं, **ताः**-वे सभी **आपः**-अप् नाम से कहे जाते हैं।

व्याख्या

सृष्टि

तैत्तिरीयोपनिषत् में आकाशादि पञ्चभूतों की सृष्टि कही गयी है तथा छान्दोग्योपनिषत् में तेज आदि तीन भूतों की सृष्टि और उनका त्रिवृत्करण वर्णित है। सुबालोपनिषत् में महत्, अहंकारादि का भी उल्लेख है अतः परमात्मा महत्, अहंकार, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और पञ्चभूतों की रचना तथा उन भूतों का पञ्चीकरण करके लोकों की सृष्टि करता है, ऐसा जानना चाहिए।

लोक

रचे जाने वाले प्राणियों के कर्मफल भोगने योग्य स्थानविशेष को लोक कहते हैं। परमात्मा ने संकल्प से ही अम्भ, मरीचि, मर और अप् इन लोकों की रचना की। अब श्रुति स्वयं इन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करती है–स्वर्गलोक और उसके ऊपर के महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये पाँचों अम्भ नाम वाले हैं। पृथ्वी से ऊपर तथा स्वर्ग से नीचे विद्यमान अन्तरिक्ष लोक मरीचि है। पृथ्वीलोक को मर कहते हैं और पृथ्वी के नीचे जो अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नामक सप्त लोक हैं, वे सभी अप् कहे जाते हैं। जल को अम्भ कहते हैं, ऊर्ध्व लोकों में रहने वाले देवगण अम्भ अर्थात् वर्षा के द्वारा पृथ्वीलोकवासियों का उपकार करते हैं अतः उनके लोकों को अम्भ कहा जाता है। मरीचि का किरण अर्थ होता है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागण की मरीचियों के द्वारा प्रचुरता से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक को मरीचि कहा जाता है। पृथ्वी लोक में प्राणी शीघ्र मरण को प्राप्त होते हैं, इसलिए इसे मर कहते हैं। जल को अप् कहते हैं। जलमय समुद्र में प्रवेश से नीचे के लोकों की प्राप्ति होती है, इसलिए उन्हें अप् कहा जाता है।

स ईक्षत, इमे नु लोकाः लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव

पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्॥3॥

अन्वय

सः ईक्षत इमे लोकाः नु लोकपालान् नु सृजै, इति सः पुरुषम् अद्भ्यः एव समुद्धृत्य अमूर्च्छयत्।

अर्थ

इसके पश्चात् **सः**-परमात्मा ने **ईक्षत**-विचार(संकल्प) किया (कि मेरे द्वारा) **इमे**-ये **लोकाः**-लोक **नु**-तो(रचे गये, अब) **लोकपालान्**-लोकपालों को **नु**-भी **सृजै**-रचूँ **इति**-ऐसा विचार करके **सः**-उसने **पुरुषम्**[1]-पुरुष की आकृति को बनाने के लिये **अद्भ्यः**-जल से **एव**-ही (उसके उपादान को) **समुद्धृत्य**-लेकर **अमूर्च्छयत्**-पिण्ड बनाया।

व्याख्या

लोकपालों की सृष्टि

परमात्मा ने प्राणियों के कर्मफलभोग के स्थान लोकों की रचना के पश्चात् 'अम्भ आदि लोक तो मेरे द्वारा रचे गये, किन्तु रक्षा न होने से ये लोक विनष्ट हो जायेंगे, इसलिए अब मैं इनकी रक्षा के लिए लोकपालों की भी रचना करूँ' ऐसा विचार किया। अद्भ्यः इस प्रकार प्रस्तुत श्रुति में आया जल का बोधक अप् शब्द पंचीकृत पञ्चभूतों का उपलक्षण है। उसने विचार करके उन भूतों से ही उपादान द्रव्य को लेकर पुरुष की आकृति का शिर, हस्त, पाद आदि अवयवों वाला एक पिण्ड बनाया। यहाँ वर्णित पुरुष की आकृति वाला पिण्ड चतुर्मुख ब्रह्मा[2] का शरीर है क्योंकि आगे इसी से देवताओं की उत्पत्ति वर्णित है।

---

1. सोऽयं विराटपुरुषः सृष्टिकर्ता अनिरुद्धाख्योऽवतारविशेषः।(ऐ.वि.)।
2. उत्पन्न होने वाले सभी जीव ब्रह्मा के शरीर में रहते हैं। ब्रह्मा उत्पन्न होने वाले सभी जीवों की समष्टिरूप है इसलिए उसे समष्टि पुरुष भी कहते हैं।

तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्। मुखात् वाक्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येताम्, नासिकाभ्यां प्राणः प्राणात् वायुः। अक्षिणी निरभिद्येताम्, अक्षीभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येताम्, कर्णाभ्यां श्रोत्रम्, श्रोत्रात् दिशः। त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत, हृदयात् मनः, मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानः, अपानात् मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतः, रेतस आपः॥4॥

अन्वय

तम् अभ्यतपत्। अभितप्तस्य तस्य मुखं[1] निरभिद्यत, यथा अण्डम्। मुखात् वाक्। वाचः अग्निः। नासिके निरभिद्येताम्। नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणात् वायुः। अक्षिणी निरभिद्येताम्। अक्षीभ्यां चक्षुः। चक्षुषः आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येताम्। कर्णाभ्यां श्रोत्रम्। श्रोत्रात् दिशः। त्वङ् निरभिद्यत। त्वचः लोमानि। लोमभ्यः ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत। हृदयात् मनः। मनसः चन्द्रमाः। नाभिः निरभिद्यत। नाभ्याः अपानः। अपानात् मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत। शिश्नात् रेतः। रेतसः आपः।

अर्थ

परमात्मा ने **तम्**-पिण्ड को लक्ष्य करके **अभ्यतपत्**-संकल्पात्मक तप किया। **अभितप्तस्य**-संकल्पित **तस्य**-पिण्ड का **मुखम्**-मुखाकार छिद्र **निरभिद्यत**-उत्पन्न हुआ। **यथा**-जैसे भीतर स्थित बच्चे को बाहर निकलने के लिए पक्षी का **अण्डम्**-अण्डा छिद्रयुक्त होता है, (वैसे ही ब्रह्मा का शरीर मुखरूपछिद्र से युक्त हुआ।) **मुखात्**-मुख से **वाक्**-वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **वाचः**-वाक् इन्द्रिय से **अग्निः**-अग्नि

---

1. इस मन्त्र में मुख शब्द रसना का उपलक्षण है और वाक् शब्द रसनेन्द्रिय का तथा अग्नि शब्द रसनेन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता का। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

देवता उत्पन्न हुआ, इसके पश्चात् **नासिके**-नासिका के दोनों छिद्र **निरभिद्येताम्**-उत्पन्न हुए। **नासिकाभ्याम्**-नासिकाछिद्रों से **प्राणः**-घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **प्राणात्**-घ्राण इन्द्रिय से **वायुः**-वायु देवता उत्पन्न हुआ। फिर **अक्षिणी**-चक्षु के दोनों छिद्र **निरभिद्येताम्**-उत्पन्न हुए। **अक्षीभ्याम्**-चक्षुछिद्रों से **चक्षुः**-चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **चक्षुषः**-चक्षु इन्द्रिय से **आदित्यः**-सूर्य देवता उत्पन्न हुआ। तदनन्तर **कर्णौ**-कान के दोनों छिद्र **निरभिद्येताम्**-उत्पन्न हुए। **कर्णाभ्याम्**-कान के दोनों छिद्रों से **श्रोत्रम्**-श्रोत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **श्रोत्रात्**-श्रोत्र इन्द्रिय से **दिशः**-दिशा देवता उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर **त्वङ्**-त्वक् गोलक (त्वक् इन्द्रिय का आश्रय) **निरभिद्यत**-उत्पन्न हुआ। **त्वचः**-त्वक् गोलक से **लोमानि**-त्वक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **लोमभ्यः**-त्वक् इन्द्रिय से **ओषधिवनस्पतयः**-औषधि और वनस्पति देवता उत्पन्न हुए। तदनन्तर **हृदयम्**-हृदय **निरभिद्यत**-उत्पन्न हुआ। **हृदयात्**-हृदय से **मनः**-मन उत्पन्न हुआ। **मनसः**-मन से **चन्द्रमाः**-चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। फिर **नाभिः**-गुदा **निरभिद्यत**-उत्पन्न हुआ। **नाभ्याः**-गुदा से **अपानः**-पायु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **अपानात्**-पायु इन्द्रिय से **मृत्युः**-मृत्यु देवता उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् **शिश्नम्**-लिंग **निरभिद्यत**-उत्पन्न हुआ। **शिश्नात्**-लिंग से **रेतः**[1]-उपस्थ इन्द्रिय उत्पन्न हुई। **रेतसः**-उपस्थ इन्द्रिय से **आपः**-जल देवता उत्पन्न हुआ।

व्याख्या

आश्रय, इन्द्रिय और देवताओं की उत्पत्ति

मुण्डकोपनिषत् में **यस्य ज्ञानमयं तपः**।(मु.उ.1.1.10) इस प्रकार परमात्मा के संकल्पात्मक ज्ञान को तप कहा गया है इसलिये प्रस्तुत ऐतरेयमन्त्र में तप का अर्थ संकल्प होता है। परमात्मा ने ब्रह्मा के शरीर को लक्ष्य करके संकल्प किया और इसके फलस्वरूप उस

---

1. रेतश्शब्देन प्रजननेन्द्रियमुच्यते।(रं.भा.)।

शरीर से सर्वप्रथम पक्षी के अण्डे के समान फूटकर मुखछिद्र निकला, उससे वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई और इन्द्रिय से वाक् इन्द्रिय का अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि देवता उत्पन्न हुआ। यहाँ इन्द्रिय का अधिष्ठान(आश्रय), इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवता की क्रम से उत्पत्ति कही गयी है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए-**मुखाद- धिष्ठानाद् वागिन्द्रियमुत्पन्नम्। ततो या तदधिष्ठातृदेवता। एवं चाधिष्ठानं करणं देवता च त्रयं क्रमेण निर्भिन्नमित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि।**(रं.भा.) प्राण का अर्थ घ्राणेन्द्रिय है-**प्राण इति घ्राणः लक्ष्यते।**(सु.) और वायु का अर्थ घ्राण में विद्यमान उसका अधिष्ठाता देवता लोकपाल अश्विनीकुमार है-**वायुः घ्राणेन्द्रियस्य अधिष्ठाता देवता लोकपालविशेषः।**(आ.भा.) चक्षुगोलक से चक्षु इन्द्रिय और उस इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता देवता लोकपाल सूर्य उत्पन्न हुआ। कर्ण से श्रोत्रेन्द्रिय और उस इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता लोकपाल दिशा देवता उत्पन्न हुआ। चर्म में स्थित त्वक्‌गोलक से त्वग् इन्द्रिय और उससे उसका अधिष्ठाता देवता लोकपाल वायु उत्पन्न हुआ। त्वक् का अधिष्ठाता देवता ही ओषधि और वनस्पति का अधिष्ठाता देवता है, इसलिए इस देवता के लिए ओषधि और वनस्पति शब्दों का प्रयोग हुआ है। हृदयस्थान से उसमें रहने वाला मन और मन से उसका अधिष्ठाता देवता लोकपाल चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि का अर्थ गुदा है, उससे पायु इन्द्रिय और इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता लोकपाल मृत्यु देवता उत्पन्न हुआ। लिंग से प्रजनन इन्द्रिय और इससे उसका अधिष्ठाता देवता उत्पन्न हुआ। जल का अधिष्ठाता देवता ही उपस्थ का अधिष्ठाता देवता है।

शरीर की उत्पत्ति के समय इन्द्रियों के आश्रय गोलकों की संरचना हो ही गयी है तथा इन्द्रियाँ एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय जीव के साथ ही जाती हैं, वे सृष्टिकाल में उत्पन्न होकर प्रलयपर्यन्त स्थायी होती हैं, इसी प्रकार उनके अधिष्ठाता देवता भी स्थायी होते हैं अतः प्रस्तुत मन्त्र में गोलक, इन्द्रिय

और उनके अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति का अर्थ उनकी अभिव्यक्ति है, ऐसा जानना चाहिए।

।। इति ऐतरेयोपनिषदि आत्मषट्के प्रथमः खण्डः।।

अथ द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनाया-पिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्। आयतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति[1]।।1।।

अन्वय

सृष्टाः ताः एताः देवताः अस्मिन् महति अर्णवे प्रापतन्। तम् अशनायापिपासाभ्याम् अन्ववार्जत्। ताः एनम् अब्रुवन्। नः आयतनं प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिताः अन्नम् अदाम इति।।

अर्थ

परमात्मा के द्वारा **सृष्टाः**-रचे गये **ताः**-वे **एताः**-अग्नि आदि **देवताः**-देवता **अस्मिन्**-इस **महति**-विशाल **अर्णवे**-संसारसागर में **प्रापतन्**-तीव्रता से गिर गये। परमात्मा ने **तम्**-देवसमूह को **अशनायापिपासाभ्याम्**-क्षुधा और पिपासा से **अन्ववार्जत्**-युक्त कर दिया। **ताः**-देवताओं ने **एनम्**[2]-परमात्मा से **अब्रुवन्**-कहा (कि) **नः**-हम सभी को **आयतनम्**-निवासस्थान **प्रजानीहि**-प्रदान कीजिए। **यस्मिन्**-जिसमें **प्रतिष्ठिताः**-स्थित होकर(हम सभी अपने) **अन्नम्**-आहार को **अदाम**-खा सकें।

---

1. इतिशब्दः वाक्यसमाप्तिं द्योतयति। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्।
2. परमात्मा ब्रह्मा की उत्पत्तिपर्यन्त सृष्टि कार्य स्वयं करते हैं, इसके पश्चात् ब्रह्मा के अन्तर्यामी होकर व्यष्टि सृष्टि करते हैं। परमात्मा ने ब्रह्मा के शरीर से लोकपाल देवताओं की सृष्टि की, क्षुधा-पिपासा से पीड़ित वे सभी पितामह ब्रह्मा के पास आये। प्रस्तुत मन्त्र में आया एनम् शब्द ब्रह्मा को कहते हुए उसके अन्तरात्मा परमात्मा को कहता है, इस प्रसंग में इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

व्याख्या

देवताओं की अभिलाषा

परमात्मा के द्वारा लोकपालत्वेन रचित सभी देवता राग, द्वेष, काम, क्रोधादिरूप महाग्राह से युक्त भयंकर संसारसागर में गिर गये, उन्हें रहने का कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला और देवताओं के सृष्टिकर्ता परमात्मा ने ही उन सभी को क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया। उससे व्याकुल होकर उन्होंने सृष्टिकर्ता परमात्मा से कहा कि आप हमारे निवासस्थान की व्यवस्था कीजिए, जिसमें स्थित होकर हम सभी आहार ग्रहण करके अपनी भूख-प्यास मिटाकर तृप्त हो सकें। देवता भी क्षुधा-पिपासा का अतिक्रमण नहीं कर पाते। हे द्विजोत्तम! परम उदार महर्षे! स्वर्गलोक में निवास करने वाले मुझे क्षुधा और पिपासा बड़ा कष्ट देती हैं, उनसे मेरी इन्द्रियाँ व्यथित हो जाती हैं-**तस्येमे स्वर्गभूतस्य क्षुत्पिपासे द्विजोत्तम। बाधेते परमोदार ततोऽहं व्यथितेन्द्रियः॥**(वा.रा.7.78.11) इस श्रीमद्रामायण वचन के अनुसार देवलोक निवासी क्षुधा-पिपासा से व्यथित भी होते हैं।

ताभ्यो गामानयत्। ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति1। ताभ्योऽश्वमानयत्। ता अब्रुवन्, न वै नोऽयमलमिति॥2॥

अन्वय

ताभ्यः गाम् आनयत्। ताः अब्रुवन्। अयं नः अलं वै न इति। ताभ्यः अश्वम् आनयत्। ताः अब्रुवन्। अयं नः अलं वै न इति।

अर्थ

परमात्मा ने **ताभ्यः**-देवताओं के लिये **गाम्**-गाय के शरीर को **आनयत्**-लाकर दिखाया। उसे देखकर **ताः**-देवताओं ने (परमात्मा से) **अब्रुवन्**-कहा (कि) **अयम्**-यह शरीर **नः**-हम सभी के लिए **अलम्**-पर्याप्त **वै**-ही **न**-नहीं है, इसके पश्चात् परमात्मा ने **ताभ्यः**-देवताओं के लिये **अश्वम्**-अश्व के शरीर को **आनयत्**-लाकर दिखाया। तब **ताः**-देवताओं ने परमात्मा से **अब्रुवन्**-कहा (कि)

अयम्-यह शरीर (भी) **नः**-हम सभी के लिए **अलम्**-पर्याप्त **वै**-ही **न**-नहीं है।

<u>व्याख्या</u>

पशुशरीर से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं

देवताओं के प्रार्थना करने पर सृष्टिकर्ता परमात्मा ने गाय का शरीर बनाकर उन्हें दिखाया, उसे देख कर देवताओं ने कहा कि यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है अर्थात् इस शरीर से हमारा कार्य ठीक से सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारे लिए इससे श्रेष्ठ शरीर की रचना कीजिए। तब परमात्मा ने अश्व का शरीर बनाकर उन्हें दिखाया। उसे देखकर उन्होंने पुनः कहा कि यह भी हमारे लिए यथेष्ट नहीं है अतः आप इससे भी श्रेष्ठ शरीर बनाइये।

ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन्, सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद् यथायतनं प्रविशतेति॥3॥

अन्वय

ताभ्यः पुरुषम् आनयत्। ताः अब्रुवन्, बत सुकृतम् इति। पुरुषः वाव सुकृतम्। ताः अब्रवीत् यथायतनं प्रविशत इति।

अर्थ

परमात्मा ने **ताभ्यः**-देवताओं के लिये **पुरुषम्**-मनुष्य शरीर को **आनयत्**-लाकर दिखाया, उसे देखकर **ताः**-देवताओं ने (परमात्मा से) **अब्रुवन्**-कहा (कि हमें अत्यन्त) **बत**[1]-हर्ष है (कि आपके द्वारा हमारे लिए निर्मित यह शरीर) **सुकृतम्**-सुन्दर रचना है। **पुरुषः**-मनुष्यशरीर **वाव**-ही **सुकृतम्**-सुकृत का साधन है। तब परमात्मा ने **ताः**-उन देवताओं से **अब्रवीत्**-कहा (कि तुम सभी अपने) **यथायतनम्**-रहने योग्य स्थानों में **प्रविशत**-प्रवेश करो।

<u>व्याख्या</u>

मनुष्य शरीर से पुरुषार्थसिद्धि

देवताओं की प्रार्थना के अनुसार परमात्मा ने उन्हें सर्वोत्तम

---

1. बत इत्यव्ययं हर्षवाचकम्।(आ.भा.)।

मनुष्य शरीर बनाकर दिखाया। वे अपने उत्पत्तिस्थान ब्रह्मा के शरीर के समान आश्रय लेने योग्य मनुष्यशरीर को समक्ष देखकर हर्षित होकर प्रशंसा करने लगे। देवदुर्लभ यह मानव शरीर सकल पुरुषार्थों का साधन होने से सुकृत कहा जाता है। देवताओं के द्वारा उस शरीर को पसंद किये जाने पर परमात्मा ने उन्हें शरीर में यथायोग्य स्थानों में प्रवेश करने का आदेश दिया। चतुर्मुख के शरीर के जिस स्थान से, जिस इन्द्रिय से जिस देवता की उत्पत्ति हुई है, वे देवता उस इन्द्रिय के साथ ही उस स्थान में प्रविष्ट हो जायें, यह उक्त कथन का अभिप्राय है।

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशश्श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्॥4॥

अन्वय

अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणः भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमाः मनः भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।

अर्थ

वाक् इन्द्रिय का अधिष्ठाता **अग्निः**-अग्नि देवता **वाक्**-वाक् इन्द्रियरूप(वाक् इन्द्रिय में स्थित) **भूत्वा**-होकर **मुखम्**-मुखविवर में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया। घ्राण इन्द्रिय का अधिष्ठाता **वायुः**-अश्विनीकुमार देवता **प्राणः**-घ्राण इन्द्रियरूप **भूत्वा**-होकर **नासिके**-नासिका के दोनों छिद्रों में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया। चक्षु इन्द्रिय का

अधिष्ठाता **आदित्यः**-सूर्य देवता **चक्षुः**-चक्षु इन्द्रियरूप **भूत्वा**-होकर **अक्षिणी**-दोनों चक्षुओं में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया। श्रोत्र इन्द्रिय का अधिष्ठाता **दिशः**-दिशा देवता **श्रोत्रम्**-श्रोत्र इन्द्रियरूप **भूत्वा**-होकर **कर्णौ**-दोनों कानों में **प्राविशन्**-प्रवेश कर गया। त्वक् इन्द्रिय का अधिष्ठाता **ओषधिवनस्पतयः**-ओषधिवनस्पति देवता **लोमानि**-त्वक् इन्द्रियरूप **भूत्वा**-होकर **त्वचम्**-त्वचा में **प्राविशन्**-प्रवेश कर गया। मन इन्द्रिय का अधिष्ठाता **चन्द्रमाः**-चन्द्रमा देवता **मनः**-मनरूप **भूत्वा**-होकर **हृदयम्**-हृदय में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया। पायु इन्द्रिय का अधिष्ठाता **मृत्युः**-मृत्यु देवता **अपानः**-गुदारूप **भूत्वा**- होकर **नाभिम्**-गुदा में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया। उपस्थ इन्द्रिय का अधि ष्ठाता **आपः**-अप् देवता **रेतः**-उपस्थ इन्द्रियरूप **भूत्वा**-होकर **शिश्नम्**-उपस्थ में **प्राविशत्**-प्रवेश कर गया।

व्याख्या

देवतासहित इन्द्रियोंका गोलकों में प्रवेश

वाक् इन्द्रिय का अधिष्ठाता अग्नि देवता वाक् इन्द्रिय में अन्तर्भूत अर्थात् स्थित होकर मुख के छिद्र में प्रविष्ट हो गया, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

तमशनायापिपासे अब्रूताम्, आवाभ्यां अधि प्रजानीहि इति। स ते अब्रवीत्, एतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमि इति। तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते, भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः॥5॥

अन्वय

अशनायापिपासे तम् अब्रूताम्, आवाभ्यां अधिप्रजानीहि इति सः ते अब्रवीत्, वाम् एतासु देवतासु एव आभजामि इति एतासु भागिन्यौ करोमि। तस्मात् यस्यै कस्यै च देवतायै हविः गृह्यते, अस्याम् एव अशनायापिपासे भागिन्यौ भवतः।

अर्थ

अशनायापिपासे-अशनाया और पिपासा ने **तम्**-परमात्मा को **अब्रूताम्**-कहा(कि) **आवाभ्याम्**-हम दोनों के निवास के लिए **अधिप्रजानीहि**-स्थान प्रदान कीजिए **इति**-ऐसा कहने पर **सः**-परमात्मा ने **ते**-अशनाया और पिपासा को **अब्रवीत्**-कहा (कि) **वाम्**-तुम दोनों को **एतासु**-इन सभी **देवतासु**-देवताओं में **एव**-ही (स्थान देकर) **आभजामि**-अनुग्रहीत करता हूँ, **इति**-इस प्रकार **एतासु**-इन देवताओं में ही **भागिन्यौ**-भागीदार **करोमि**-बनाता हूँ। **तस्मात्**-इसलिए **यस्यै**-जिस **कस्यै**-किसी **च**-भी **देवतायै**-देवता के लिये **हविः**-हविष् **गृह्यते**-लेकर अर्पित की जाती है, **अस्याम्**-देवताओं को अर्पित की जाने वाली हविष् में **एव**-ही **अशनायापिपासे**-अशनाया और पिपासा **भागिन्यौ**-भागीदार **भवतः**-होते हैं।

व्याख्या

क्षुधा और पिपासा के द्वारा स्थान की याचना

भूख और प्यास के द्वारा अपने निवास के लिए निर्दिष्ट स्थान की याचना करने पर परमात्मा ने उन दोनों से कहा कि तुम दोनों को अलग निवास की आवश्यकता नहीं है अतः देवताओं के आहार में ही तुमको भागीदार बनाता हूँ। उनको प्रदान की जाने वाली हविष् तुम्हें भी प्राप्त होगी इसलिए यजमान के द्वारा समर्पित आहार से देवताओं की तृप्ति के साथ उनकी क्षुधा-पिपासा की भी तृप्ति होती है। इसी प्रकार भोजन से अन्य प्राणियों की तृप्ति के साथ ही उनमें विद्यमान क्षुधा-पिपासा की भी तृप्ति होती है किन्तु यहाँ देवताओं की पूर्वकालिक सृष्टि का प्रसंग होने के कारण उनका ही उल्लेख किया गया है। मनुष्यों के द्वारा चरुपुरोडाशादिरूप हविष् अर्पित किये जाने पर अग्नि, वायु और इन्द्रादि देवता उसे ग्रहण कर तृप्त होते हैं और इसके विना अतृप्त रहकर व्याकुल भी होते हैं, इससे स्पष्ट है कि बड़े बड़े देवताओं के पद भी शान्ति प्रदान नहीं कर सकते अतः

मुमुक्षु को उनसे भी विरत रहना चाहिए।

॥ इति द्वितीयः खण्डः॥

अथ तृतीयः खण्डः

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्नमेभ्यस्सृजा इति॥1॥

अन्वय

सः ईक्षत, इमे लोकाः च लोकपालाः च नु, एभ्यः अन्नं सृजै इति।

अर्थ

सः-परमात्मा ने **ईक्षत**-विचार किया(कि) **इमे**-ये **लोकाः**-लोक **च**-और **लोकपालाः**-लोकपाल **नु**[1]- तो (रचे ही गये) अब **एभ्यः**-इन सभी के लिए **अन्नम्**-अन्न की **सृजै**-रचना करूँ।

व्याख्या

परमात्मा का संकल्प

लोक और लोकपालों की रचना करके लोकपालों को क्षुधा-पिपासा से युक्त करने के कारण परमात्मा ने विचार किया कि अन्न के विना इनका जीवन ही असंभव होगा अतः इनके जीवन निर्वाह के लिए अन्न की रचना करूँ।

सोऽपोऽभ्यतपत्। ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायत, अन्नं वै तत्॥2॥

अन्वय

सः अपः अभ्यतपत्। अभितप्ताभ्यः ताभ्यः मूर्तिः अजायत। सा या वै मूर्तिः अजायत, तत् वै अन्नम्।

अर्थ

सः-परमात्मा ने **अपः**-जल को लक्ष्य करके **अभ्यतपत्**-विचाररूप

1. नुशब्दः तुशब्दार्थकः।(प्रदी.)।

तप किया। **अभितप्ताभ्यः**-विचारित **ताभ्यः**-उस जल से **मूर्तिः**-घनीभूत पदार्थ **अजायत**-उत्पन्न हुआ। **सा**-वह **या**-जो **वै**-प्रसिद्ध **मूर्तिः**-घनीभूत पदार्थ **अजायत**-उत्पन्न हुआ। **तत्**-वह **वै**-ही **अन्नम्**-अन्न है।

व्याख्या

अन्न की सृष्टि

प्रस्तुत श्रुति में आया अप् शब्द पञ्चीकृत भूतों का उपलक्षण है, इनसे उत्पन्न अन्न भी पाञ्चभौतिक है।

तदेतदभिसृष्टं सत् पराङत्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यत्, अभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥3॥

अन्वय

अभिसृष्टं सत् तत् एतत् पराङ् अत्यजिघांसत्[1]। वाचा तत् अजिघृक्षत्। वाचा तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् वाचा अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् अभिव्याहृत्य एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

अभिसृष्टम्-लोकपालों के सम्मुख उत्पादित **सत्**-होकर **तत्**-वह **एतत्**-अन्न(भोक्ता लोकपालों से)**पराङ्**-विमुख होकर **अत्यजिघांसत्**-पलायन की चेष्टा करने लगा, तब नवनिर्मितमनुष्यशरीरधारी प्रथम भोक्ता पुरुष ने **वाचा**-वाणी से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की(किन्तु वह) **वाचा**-वाणी से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष **ह**-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **वाचा**-वाणी से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता तो वर्तमान समय का प्राणी भी ह-लोकप्रसिद्ध

---

1. अजिघांसदित्यत्र अन्नं कर्तृ। 'हन हिंसागत्योः' इति गत्यर्थेऽयं प्रयोगः। पद्धतिः संहननमित्यादिवत्। कूलं पिपतिषतीतिवत् औपचारिकप्रयोगः।(भा.प.)।

अन्नम्-अन्न का **अभिव्याहृत्य**-उच्चारण करके **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

व्याख्या

वागादि इन्द्रियों का अन्नग्रहण करने में असामर्थ्य

भोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए परमात्मा के द्वारा उत्पादित अन्न लोकपालों के समक्ष आकर 'यह मेरा विनाशक है' ऐसा समझकर उनसे मुँह फेरकर भागने की चेष्टा करने लगा। उसे प्रथम उत्पन्न हुए पुरुष ने वाणी से ग्रहण करने की चेष्टा की किन्तु सफल नहीं हो सका। यदि वह वाणी से ग्रहण कर लेता तो आज भी वाणी से अन्न का उच्चारण करके ही प्राणियों का पेट भर जाता किन्तु ऐसा नहीं हो सका। ऐतरेयोपनिषत् के दीपिकाव्याख्याकार विद्यारण्य स्वामी के अनुसार पलायन करने में समर्थ मूषकादि जो कि बिल्ली आदि के आहार हैं, उनका ही यहाँ अन्न पद से ग्रहण होता है किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अभी देवसृष्टि का ही प्रसंग है अतः उनका ही अन्न यहाँ वर्णित है, विडालादि का नहीं। भोक्ता के प्रयत्न के विना अन्न स्वयं क्षुधा का शामक नहीं है, यह इस प्रसंग का तात्पर्य है।

तत् प्राणेनाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यत्, अभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥4॥

अन्वय

प्राणेन तत् अजिघृक्षत्। प्राणेन तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् प्राणेन अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् अभिप्राण्य एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

नूतनमनुष्यशरीरधारी ने **प्राणेन**-घ्राण इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **प्राणेन**-घ्राण इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर

सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष **ह**-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **प्राणेन**-घ्राण इन्द्रिय से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता तो वर्तमान समय का प्राणी भी **ह**-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न को **अभिप्राण्य**-सूँघकर **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यत्, दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥5॥

अन्वय

चक्षुषा तत् अजिघृक्षत्। चक्षुषा तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् चक्षुषा अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् दृष्ट्वा एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

नूतनशरीरधारी ने **चक्षुषा**-चक्षु से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **चक्षुषा**-चक्षु से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष **ह**-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **चक्षुषा**-चक्षु से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता तो वर्तमान समय का प्राणी भी ह-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न को **दृष्ट्वा**-देखकर **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यत्, श्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥6॥

अन्वय

श्रोत्रेण तत् अजिघृक्षत्। श्रोत्रेण तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् श्रोत्रेण अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् श्रुत्वा एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

आदिपुरुष ने **श्रोत्रेण**-श्रोत्र इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **श्रोत्रेण**-श्रोत्र से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण न-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। यत्-यदि सः-आदि

पुरुष ह-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **श्रोत्रेण**-श्रोत्र से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता तो वर्तमान समय का प्राणी भी **ह**-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न को **श्रुत्वा**-सुनकर **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्टा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥7॥

अन्वय

त्वचा तत् अजिघृक्षत्। त्वचा तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् त्वचा अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् स्पृष्ट्वा एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

मानवशरीरधारी ने **त्वचा**-त्वक् इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **त्वचा**-त्वक् से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष **ह**-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **त्वचा**-त्वचा से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता तो वर्तमान समय का प्राणी भी ह-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न का **स्पृष्ट्वा**-स्पर्श करके **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तन्मनसाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसा-ऽग्रहैष्यत्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥8॥

अन्वय

मनसा तत् अजिघृक्षत्। मनसा तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् मनसा अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् ध्यात्वा एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

आदि पुरुष ने **मनसा**-मन इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **मनसा**-मन से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष ह-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **मनसा**-मन से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण

करने में समर्थ होता (तो वर्तमान समय का प्राणी भी) **ह**-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न का **ध्यात्वा**-ध्यान करके **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तच्छिश्नेनाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यत्, विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥9॥

अन्वय

शिश्नेन तत् अजिघृक्षत्। शिश्नेन तत् ग्रहीतुं न अशक्नोत्। यत् सः ह एनत् शिश्नेन अग्रहैष्यत्, ह अन्नम् विसृज्य एव अत्रप्स्यत्।

अर्थ

मानवदेहधारी ने **शिश्नेन**-उपस्थ इन्द्रिय से **तत्**-अन्न को **अजिघृक्षत्**-ग्रहण करने की चेष्टा की (किन्तु वह) **शिश्नेन**-उपस्थ से **तत्**-अन्न को **ग्रहीतुम्**-ग्रहण **न**-नहीं **अशक्नोत्**-कर सका। **यत्**-यदि **सः**-आदि पुरुष **ह**-प्रसिद्ध **एनत्**-अन्न को **शिश्नेन**-उपस्थ से **अग्रहैष्यत्**-ग्रहण करने में समर्थ होता (तो वर्तमान समय का प्राणी भी) **ह**-लोकप्रसिद्ध **अन्नम्**-अन्न का **विसृज्य**-त्याग कर **एव**-ही **अत्रप्स्यत्**-तृप्त हो जाता।

तदपानेनाजिघृक्षत्। तदावयत्। स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुः। अन्नायुर्वा एष यद्वायुः॥10॥

अन्वय

अपानेन[1] तत् अजिघृक्षत्। तत् आवयत्। यत् एषः वायुः, सः अन्नस्य ग्रहः। यत् वायुः एषः वै अन्नायुः।

अर्थ

नरदेहधारी ने **अपानेन**-मुख में विद्यमान वायु से **तत्**-अन्न को

1.गलान्तर्गच्छतो वायोरधोगतित्वादपानशब्देन अन्नस्य मुखबिलादन्तः प्रवेशरूपं निगरणं कुर्वन् अन्तर्मुखो भूत्वा यो वायुः सोऽभिधीयते।(सा.भा.)।

अजिघृक्षत्-ग्रहण करने की चेष्टा की, तब उसने **तत्**-अन्न को **आवयत्**-ग्रहण कर लिया। **यत्**-जो **एषः**-यह **वायुः**-मुखस्थ वायु है, **सः**-वह **अन्नस्य**-अन्न का **ग्रहः**-भोक्ता है। **यत्**-जो मुखस्थ **वायुः**-वायु है, **एषः**-यह वायु **वै**-निश्चितरूप से **अन्नायुः**-अन्न से जीवित रहने वाली है।

व्याख्या

अपान के सहयोग से अन्नभक्षण

प्राणी मुख से भोजन करता है, उसमें एक वायु सहायक होती है, जो भोजन को उदर में ले जाती है, उसके ठीक से काम न करने पर वमन हो जाता है। कुछ लोगों को खाते ही वमन हो जाता है। मुख के अन्दर विद्यमान, भोजन का सहायक यह वायु ही प्रस्तुत श्रुति में अपान शब्द से कही जाती है। **अपानेन मुखरन्ध्रगतेन वायुना अजिघृक्षत्।**(रं.भा.)। मुखछिद्र के अन्दर संचरण करने वाली यह वायु नीचे की ओर जाने से अपान कही जाती है। आदि पुरुष ने इस वायु के सहयोग से अन्न ग्रहण कर लिया। भोक्ता पुरुष के अन्नग्रहण में प्रधान सहयोगी वायु होने से इसे ही **अन्नस्य ग्रहः** इस प्रकार अन्न को ग्रहण करने वाली कहा गया है। अपान नाम वाली यह वायु अन्नायु अर्थात् अन्न के अधीन ज़ीवन वाली है। देह को अन्न प्राप्त न होने पर यह वायु नहीं रहती और इसके न रहने से प्राणी का जीवन भी नहीं रहता, इसीलिए श्रुति कहती है कि जब तक इस शरीर में प्राण वायु रहती है, तभी तक प्राणी की आयु होती है-**यावद् ह्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति, तावदायुः।**(कौ.उ.3.15)।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतम्, यदि प्राणेनाऽभिप्राणितम्, यदि चक्षुषा दृष्टम्, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्, यदि त्वचा स्पृष्टम्, यदि मनसा ध्यातम्, यद्यपानेनाऽभ्यपानितम्, यदि शिश्नेन विसृष्टम्, अथ कोऽहमिति॥11॥

अन्वय

सः ईक्षत। इदं मत् ऋते कथं नु स्यात् इति। सः ईक्षत। कतरेण प्रपद्यै इति। सः ईक्षत। यदि वाचा अभिव्याहृतम्, यदि प्राणेन अभिप्राणितम्, यदि चक्षुषा दृष्टम्, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्, यदि त्वचा स्पृष्टम्, यदि मनसा ध्यातम्, यदि अपानेन अभ्यपानितम्, यदि शिश्नेन विसृष्टम्, अथ अहं कः इति।

अर्थ

सः-सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने **ईक्षत**-विचार किया (कि) **इदम्**-यह शरीर **मत्**-मेरे **ऋते**-विना **कथं नु**-कैसे **स्यात्**-रहेगा? **इति**-इस विचार के पश्चात् **सः**-परमात्मा ने (पुनः) **ईक्षत**-विचार किया (कि मैं इस शरीर में) **कतरेण**[1]-किस मार्ग से **प्रपद्यै**-प्रवेश करूँ? **इति**-ऐसा विचार करने के पश्चात् **सः**-ईश्वर ने (फिर) **ईक्षत**-विचार किया कि **यदि**-यदि(मेरे विना) **वाचा**-वाणी ने **अभिव्याहृतम्**-उच्चारण कर लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **प्राणेन**-घ्राण ने **अभिप्राणितम्**-सूँघ लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **चक्षुषा**-चक्षु ने **दृष्टम्**-देख लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **श्रोत्रेण**-श्रोत्र ने **श्रुतम्**-सुन लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **त्वचा**-त्वचा ने **स्पृष्टम्**-स्पर्श कर लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **मनसा**-मन ने **ध्यातम्**-ध्यान कर लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **अपानेन**-मुखछिद्रवर्ती वायु ने **अभ्यपानितम्**-खा लिया। **यदि**-यदि (मेरे विना) **शिश्नेन**-उपस्थ ने **विसृष्टम्**-त्याग कर दिया, तो **अथ**-फिर **अहम्**-मैं **कः**-कौन हूँ।

व्याख्या

परमात्मा का ईक्षण

परमात्मा ने लोक और लोकपालादि की रचना तथा अन्न के अधीन लोकपालों की स्थिति कर यह चिन्तन किया कि पुर के

1. कतरेण इत्यत्र छान्दसो डतमच्।(आ.भा.)।

स्वामी मेरे विना लोकपालों से अधिष्ठित(संचालित) इन्द्रियों से युक्त यह शरीररूप पुर कैसे रह सकेगा? क्योंकि राजा से अनधिष्ठित कोई भी पुर अपना कार्य(व्यवस्था) करने में समर्थ नहीं होता अपितु शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। इससे परमात्मा का देहेन्द्रिय का परिपालनरूप उद्देश्य प्रकट होता है, इसके लिये उसका देह में प्रवेश अनिवार्य है अतः उसने पुनः विचार किया कि मैं देह में स्थित नव द्वारों में से किस द्वार से प्रवेश करूँ? इस प्रकार मार्गचिन्तन के पश्चात् परमात्मा ने और भी चिन्तन किया कि यदि मेरे विना वाक् इन्द्रिय ने शब्द का उच्चारण कर लिया, घ्राण ने गन्ध को ग्रहण कर लिया। चक्षु ने रूप और रूपवान् पदार्थों को देख लिया। श्रोत्र ने शब्द को सुन लिया। त्वचा ने शीत, उष्ण तथा मृदु और कठोर स्पर्शों को जान लिया। मन ने चिन्तन कर लिया। मुखस्थ वायु ने ख़ा लिया और उपस्थ इन्द्रिय ने विषयसुख ले लिया, तो मैं कौन हूँ? पुरवासी पुर के स्वामी के विना यदि अपना कार्य करने में समर्थ हो जाएँ तो पुर का स्वामी कोई नहीं हो सकता, इसी प्रकार यदि मेरे विना वागादि इन्द्रियाँ और उसके अधिष्ठाता देवता अपना कार्य करने लगें तो मैं इस शरीररूप पुर का स्वामी अर्थात् शेषी नहीं हो सकता और यह शरीर, इसमें विद्यमान इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठाता देवता भी मेरे शेष नहीं हो सकते, इससे मेरा सृष्टि करने का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो सकता। अनादि काल से संसारचक्र में परिभ्रमण करने वाला जीव मुझ सर्वशेषी परमात्मा का साक्षात्कार करके अपना उद्धार करे, यही मेरा प्रयोजन है अतः स्वशरीरभूत जीवात्मा के द्वारा मैं इसमें प्रवेश करूँगा। जैसे वाक् इन्द्रिय का अधिष्ठाता होकर अग्नि ने प्रवेश किया और चक्षु का अधिष्ठाता होकर आदित्य ने प्रवेश किया, उसी प्रकार जीवात्मा का अधिष्ठाता होकर मैं प्रवेश करूँगा, यह परमात्मा के ईक्षण का अभिप्राय है।

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम

द्वाः तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथाः, त्रयः स्वप्नाः, अयम् आवसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति।।12।।

अन्वय

स: एतं सीमानं विदार्य एतया द्वारा एव प्रापद्यत। सा एषा द्वाः विदृतिः नाम। तत् एतत् नान्दनम्। तस्य त्रयः स्वप्नाः। त्रयः आवसथाः। अयम् आवसथः। अयम् आवसथः। अयम् आवसथः इति।

अर्थ

सः-परमात्मा **एतम्**-मनुष्यशरीर के अंग **सीमानम्**-मूर्धा को **विदार्य**-विदीर्ण कर **एतया**-मूर्धा **द्वारा**-द्वारा **एव**-ही **प्रापद्यत**-प्रवेश कर गया। **सा**-परमात्मा के प्रवेश का साधन **एषा**-यह **द्वाः**-द्वार **विदृतिः**-विदृति **नाम**-नामवाला है। **तत्**-परमात्मा के प्रवेश का साधन **एतत्**-यह द्वार **नान्दनम्**-आनन्द का साधन है। **तस्य**-जीवात्मशरीरक परमात्मा के **त्रयः**-तीन **स्वप्नाः**-स्वप्न के समान आश्चर्यजनक **त्रयः**-तीन **आवसथाः**-स्थान हैं। **अयम्**-चक्षु **आवसथः**-स्थान है। **अयम्**-अन्तःकरण **आवसथः**-स्थान है। **अयम्**-हृदयाकाश **आवसथः**-स्थान है।

व्याख्या

परमात्मा का देह में प्रवेश

पैर का अग्रभाग प्राणवायु का प्रवेश मार्ग है-**पादाग्ररूपो मार्गः प्राणवायुप्रवेशमार्गः**।(आ.भा.)। मुखादिरूप मार्ग तो वागादि इन्द्रियों के प्रवेश के मार्ग हैं। प्राणादि सभी परमात्मा के सेवकवर्ग के अन्तर्गत हैं अतः जैसे सेवकों के प्रवेश मार्ग से राजा का प्रवेश उचित नहीं माना जाता, वैसे ही परमात्मा ने दूसरों के प्रवेशमार्ग से अपना प्रवेश उचित न मानकर शरीर के पवित्र शिरभाग में स्थित सर्वोच्च महत्त्वपूर्ण स्थान मूर्धा को विदीर्ण कर अनावृत ब्रह्मरन्ध्र से प्रवेश किया। परमात्मा का यह प्रवेश जीवात्मा के द्वारा हुआ है, ऐसा

जानना चाहिए। इस जीव के अन्तरात्मारूप से प्रवेशकर मैं नामरूप को व्यक्त करूँ-**अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2) ऐसा छान्दोग्य श्रुति कहती है। ब्रह्म रन्ध्ररूप द्वार परमात्मा के द्वारा विदारित होने से विदृति नाम से भी कहा जाता है। आनन्द के साधन को नन्दन कहते हैं और उसे ही नान्दन- **नन्दति(आनन्दति) अनेनेति नन्दनं तदेव नान्दनम्।**(आ. भा.)। ब्रह्मरन्ध्ररूप द्वार आनन्द की प्राप्ति का साधन है। ब्रह्मवेत्ता इसी से निकलकर निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म के अनुभवात्मक आनन्द को प्राप्त करता है इसलिए इसे नान्दन कहते हैं। अन्य द्वार आनन्द की प्राप्ति के साधन नहीं हैं, वे विभिन्न योनियों मे जन्म लेने के साधन हैं। शरीर में अनुप्रविष्ट जीवात्मशरीरक परमात्मा के तीन निवास स्थान हैं, वे स्वप्न[1] के समान आश्चर्यभूत हैं। जाग्रत अवस्था में उसका चक्षु स्थान है, स्वप्न में अन्तःकरण और सुषुप्ति में हृदयाकाश। जैसे पुर का स्वामी राजा पुरवासियों के कार्यों का निर्देशक होता है, वैसे ही सर्वशेषी परमात्मा जाग्रत आदि दशाओं में चक्षु आदि स्थानों में स्थित जीवात्मा के कार्यों का निर्देशक होता है।

जाग्रत आदि अवस्थाओं में परमात्मा के स्थान

मनुष्य का हृदय कमल के आकार का होता है। कमलपुष्प में चारों ओर दल(पंखुड़ियाँ) होते हैं। मध्य में केसर होते हैं। केसर के नीचे कर्णिकाएँ (बीज) होती हैं। हृदय के अन्दर घनीभूत नाड़ियों का समूह है, जो कि लाल माँसपिण्ड जैसा प्रतीत होता है, यह कमल की कर्णिका के स्थान पर है, इसे पुरीतत् कहते हैं, इसका बृहदारण्यक

---

1. स्वप्न आश्चर्यभूत है और आश्चर्य का जनक भी। इस प्रसंग में 'स्वप्न के पदार्थों का अल्पकालस्थायित्व विवक्षित है' ऐसा उत्तमूर वीरराघवाचार्य ने परमार्थभूषण ग्रन्थ में कहा है। स्वप्न मिथ्या नहीं है, इसके लिए माण्डूक्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या और विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ देखना चाहिए।

श्रुति **य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः।**(बृ.उ.4.2.3) इस प्रकार वर्णन करती है। हृदय से सम्बन्ध रखने वाली हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय से पुरीतत् की ओर जाती हैं-**हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ति।**(कौ.उ.4.38), पुरीततत्सम्बन्धी हिता नामक नाड़ियाँ हृदय के अन्दर प्रतिष्ठित होती हैं-**एवमस्यैता हिता नाम नाड्यो अन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति।**(बृ.उ.4.2.3)। ये नाड़ियाँ हृदय से बाहर भी विद्यमान रहती हैं। जीव जाग्रतदशा में हृदय में केसरायमाण नाड़ी से ऊपर दल भाग में रहता है। हृदय के दश छिद्र होते हैं, जिनमें इन्द्रियाँ स्थित होती हैं-**हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति, येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः।**(सु.उ.4)। हृदय की प्रधान दश नाड़ियाँ होती हैं-**अथेमा दश नाड्यो भवन्ति।**(सु.उ.4) इन नाड़ियों से सम्बद्ध इन्द्रियाँ गोलकपर्यन्त विद्यमान रहती हैं। जीव का धर्मभूतज्ञानद्वारा मन से सम्बन्ध होता है, मन का नेत्रादि इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपने गोलकों में रहकर कार्य करती हैं। जाग्रत दशा में हृदयस्थ केसरायमाण नाड़ी से ऊपर दल भाग में स्थित जीव का नेत्र से सम्बन्ध होने के कारण **नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्।**(ब्र.उ.)यह श्रुति उसका चक्षु स्थान कहती है। परमात्मा स्वरूपतः सभी स्थानों में रहने पर भी जाग्रत दशा में आत्मा के अन्तरात्मारूप से चक्षु स्थान में रहता है। जीव स्वप्नावस्था में केसरस्थानी हिता नाड़ियों में जाकर रहता है-**तासु तदा भवति।**(कौ.उ.4.38), हिता नाडी कण्ठ की समीपवर्ती नाडी है इसलिए स्वप्नावस्था में इसमें स्थित जीव का **कण्ठस्थे स्वप्नं विनिर्दिशेत्।**(ब्र.उ.) यह श्रुति कण्ठ स्थान कहती है। जीव स्वप्नावस्था में (कण्ठ की समीपवर्ती हिता नाड़ी में स्थित) अन्तःकरण में रहता है-**स्वप्नदशायाम् अन्तःकरणम्**(ऐ.उ.रं.भा.3.12)। स्वप्न में सक्रिय रहने वाले अन्तःकरण का अधिष्ठाता जीव होने से उसकी अन्तःकरण में भी स्थिति कही जाती है। विभु परमात्मा का भी इसके द्वारा अन्तःकरण में रहना कहा जाता है। स्वप्नदशा में जीव के हिता नाडी

में आने पर मन भी इसी में आ जाता है, यहाँ प्रवेश करने पर जीव का मन से अतिरिक्त इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। जीवात्मा हिता नाड़ियों से पुरीतत् में आकर सुषुप्ति को प्राप्त होता है-**ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते।**(बृ.उ.2.1.19)यह हृदय में ही स्थित है अतः निद्रा दशा में जीवात्मा का स्थान पुरीतत् या हृदय कहा जाता है। सुषुप्ति में जीव का हृदयस्थान होने से इसके अन्तरात्मा का भी हृदयस्थान कहा जाता है।

जीव जाग्रतस्थान से स्वप्नस्थान में जाता है, वहाँ से सुषुप्तिस्थान में जाता है, फिर सुषुप्तिस्थान से स्वप्नस्थान होते हुए जाग्रतस्थान में आ जाता है। इस प्रकार जीव जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में तीन स्थानों में संचरण करता रहता है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि परमात्मा सर्व व्यापक है अतः विदारण करके ब्रह्मरन्ध्रद्वारा उसका प्रवेश संभव न होने से तथा छान्दोग्यश्रुति के बल से जीवविशिष्ट परमात्मा का प्रवेश सिद्ध होता है।

शंका-ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से रहित परमात्मा का ईक्षण करना कैसे संभव है? इसी प्रकार शरीररहित परमात्मा का अप् से शरीर के उपादान को लेना तथा उसे पिण्डीभूत करना भीं कैसे संभव है? और मुखादि से वाक् आदि इन्द्रियों की और उनसे अग्नि आदि देवताओं की उत्पत्ति कैसे संभव है? तथा शरीर से रहित देवताओं का आश्रय के लिये प्रार्थना करना भी कैसे संभव है?

समाधान-परमात्मा की स्वाभाविक परा शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। स्वाभाविक सर्वविषयकज्ञान, जगत् को धारण करने का स्वाभाविक सामर्थ्य और जगत् का नियमन करनारूप स्वाभाविक कार्य विविध प्रकार का सुना जाता है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8), परमात्मा में ऐसी विचित्र शक्तियाँ निहित हैं-**आत्मनि चैवं विचित्राश्च** हि(ब्र.

सू 2.1.28), सभी पदार्थों की स्वाभाविक शक्तियाँ तर्क से अचिन्त्य और दिव्यज्ञान का विषय होती हैं इसलिए परब्रह्म की जगत्सृजन आदि की निमित्त शक्तियाँ स्वाभाविक होती हैं। हे तपस्विश्रेष्ठ! जैसे अग्नि की उष्णता प्रमाणसिद्ध होती है, वैसे ही परब्रह्म की शक्तियाँ भी प्रमाणसिद्ध होती हैं-**शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतो यतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥ भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।**(वि.पु.1.3.2) इत्यादि शास्त्रवचनों से सिद्ध परमात्मा की विविध-विचित्र शक्तियों का ज्ञान रखने वाले यह भी समझते हैं कि **पश्यत्यचक्षुः सः शृणोत्यकर्णः।**(श्वे.उ.3.19) इत्यादि प्रमाणों के बल से करणकलेवररहित परमात्मा का संकल्पात्मक ज्ञानरूप ईक्षण, अप् से शरीर के उपादान को लेना और उसे पिण्डीभूत करना भी संभव है। इन्द्रियों की चतुर्मुख के मुख से उत्पत्ति का अर्थ है-मुख से इन्द्रियों की अभिव्यक्ति, इसी प्रकार इन्द्रियों से देवताओं की उत्पत्ति का अर्थ है-इन्द्रियों से देवताओं की अभिव्यक्ति। सभी जीवों के शरीर में देवताओं से अधिष्ठित इन्द्रियाँ रहती हैं। देवताओं ने सकल पुरुषार्थों की सिद्धि का साधन उत्तम मनुष्यशरीर की ही याचना की। याचनाकाल में उनका यत् किंचित् देह है ही, उससे युक्त होकर देवताओं का याचना करना संभव होता है। अब रही बात परमात्मा के विदारणपूर्वक प्रवेश की। देह में इन्द्रियाँ, अधिष्ठाता देवता और परमात्मा आदि का प्रतिपादन करने के लिए ही यह प्रसंग है, ऐसा जानना चाहिए अथवा ऊपर जो जीवविशिष्ट परमात्मा का प्रवेश कहा गया है, वह जीव का प्रवेश और उसके अन्तरात्मारूप से परमात्मा का बोध कराने के लिए है अथवा देहाकारसंस्थान से पूर्व में विद्यमान संस्थानविशेष से अवच्छिन्न जो अचेतन अंश है, उसके नियमन में उपयोगी धर्मभूत ज्ञान के परिणाम वाला सर्वात्मा परमात्मा की देह की रचना होने पर उसके नियमन के लिए उपयोगी और उसके स्व(परमात्म)शरीरत्वव्यवहार का निर्वाहक विलक्षणस्वधर्मभूतज्ञानपरिणामविशिष्टत्वेन मूर्धा से लेकर

पाद के अंगुष्ठपर्यन्त व्याप्त स्थिति है, वह ही उस(परमात्मा) का प्रवेश है अथवा देह की सृष्टि के पश्चात् उपासकों का ध्येय बनने के लिए हृदय में दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट परमात्मा का प्रवेश ही यहाँ वर्णित है।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्। किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ँ3[1]॥13॥

अन्वय

जातः सः भूतानि अभिव्यैख्यत्। इह अन्यं किम् इति वावदिषत्[2]। सः ततमम् एतं पुरुषं ब्रह्म एव अपश्यत्। इति इदम् अदर्शम्।

अर्थ

जातः-उत्पन्न हुए **सः**-पुरुष ने **भूतानि**-पाञ्चभौतिक जगत् को **अभिव्यैख्यत्**-सम्मुख देखा(और) **इह**-यहाँ **अन्यम्**-अन्य **किम्**-क्या है? **इति**-यह **वावदिषत्**[2]-विचार किया। **सः**-उसने **ततमम्**-सर्वव्यापक **एतम्**-इस **पुरुषम्**-अन्तरात्मा **ब्रह्म**-ब्रह्म को **एव**-ही **अपश्यत्**-देखा(और) **इति**-अहो **इदम्**-इसे **अदर्शम्**-देख लिया।(इस प्रकार आश्चर्य व्यक्त किया।)

व्याख्या

सर्वात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार

पूर्व मन्त्र में पुरुषशरीर में ब्रह्मात्मक जीवात्मा का प्रवेश कहा गया था, उसमें प्रविष्ट होने पर मानस, वाचिक और शारीरिक सभी प्रकार के कर्म करने मे समर्थ होकर पुरुष(जीव) ने सर्वप्रथम अपने सम्मुख विद्यमान जगत् को देखा। इसकी रचना शरीर में प्रवेश से पूर्व

---

1. अत्र 'अणोऽप्रगृहस्यानुनासिकः' इति सूत्रेणानुनासिकत्वम्। इतिशब्द इदमर्शमित्यस्य दर्शनस्य स्वरूपनिर्देशकः। तत्र प्लुतत्वविधानं हर्षसूचकम्, सर्वत्र स्वात्मदर्शनस्य हर्षहेतुत्वम्।
2. वावदिषत् उक्तवान् ज्ञातवान् इत्यर्थः। यङ्लुगन्तं पदम्।(प्रदी.)।

इसकी रचना शरीर में प्रवेश से पूर्व ईश्वर द्वारा की गयी है, जगत् को देखकर उसने विचार किया कि यह मुझसे अन्य दिखायी देने वाला जगत् क्या है? इसके पश्चात् उस पुरुष ने सभी में व्याप्त होकर रहने वाले अपने अन्तरात्मा ब्रह्म का उसी के अनुग्रह से साक्षात्कार कर लिया। जगत् क्या है? ऐसी जिज्ञासा के पश्चात् पुरुष ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया, इससे स्पष्ट है कि 'जगत् अपना अन्तरात्मा सर्वव्यापक ब्रह्म ही है' इस प्रकार जगत् को ब्रह्म ही जान लिया। जगत् का अन्तरात्मा ब्रह्म होने से जगत् ब्रह्म ही है और साक्षात्कार करने वाला पुरुष का अन्तरात्मा ब्रह्म होने से पुरुष भी ब्रह्म ही है, इस प्रकार आदि पुरुष सर्वात्मभाव में प्रतिष्ठित हो गया, इसे ही **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।(छां.उ.3.14.1) और **ब्रह्मैवेदं विश्वम्**।(मु.उ.2.2.12) इत्यादि प्रकार से कहा जाता है। सर्वात्मा ब्रह्म के साक्षात्कार से जिज्ञासा का शमन होने से वह कृतकृत्यता के भाव से आश्चर्यचकित होकर कहने लगा कि मैंने सर्वव्यापक सर्वात्मा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया।

तस्मादिदन्द्रो नाम[1]। इदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥14॥

अन्वय

तस्मात् इदन्द्रः नाम। इदन्द्रः नाम ह वै। इदन्द्रं सन्तम् तम् परोक्षेण इन्द्रः इति आचक्षते। हि देवाः परोक्षप्रियाः इव। हि देवाः परोक्षप्रियाः इव।

अर्थ

तस्मात्-पुरुष के द्वारा साक्षात्कार किये जाने से(परमात्मा)

---

1. इदन्द्रो नाम इदं दृष्टमितीदन्द्र इति नाम प्राप्तवान्। इदंपदपूर्वक दृशधातोः ड्रट्प्रत्ययान्तस्येदन्द्रनामनिष्पत्तिर्बोध्या।(म.प्र.)।

इदन्द्रः-इदन्द्र **नाम**-नाम वाला है। परमात्मा का **इदन्द्रः**-इदन्द्र **नाम**-नाम **ह वै**-प्रसिद्ध है। परमात्मा **इदन्द्रम्**-इदन्द्र नाम वाला **सन्तम्**-होते हुए (भी) **तम्**-उस(परमात्मा) को **परोक्षेण**-परोक्षरूप से **इन्द्रः**-इन्द्र **इति**-ऐसा **आचक्षते**-कहा जाता है। **हि**-क्योंकि **देवाः**-ब्रह्मवेत्ता **परोक्षप्रियाः**-परोक्ष वचनों से प्रीति करने वालों के **इव**-समान होते हैं। **हि**-क्योंकि **देवाः**-ब्रह्मवेत्ता **परोक्षप्रियाः**-परोक्ष वचनों से प्रीति करने वालों के **इव**-समान होते हैं।

व्याख्या

परोक्षप्रिय देवता

क्योंकि आदि पुरुष ने इसे देख लिया-इदमदर्शम् ऐसा कहा इसलिए परमात्मा इदन्द्र नाम वाला है। उसका यह नाम प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि परमात्मा का इदन्द्र नाम प्रसिद्ध है। उसका इदन्द्र यह प्रसिद्ध नाम होने पर भी **इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते**।(बृ.उ.2.5.19) इत्यादि वचनों के द्वारा इन्द्र नाम से निर्देश किया जाता है। इस निर्देश का क्या कारण है? क्योंकि ब्रह्मवेत्ता परोक्ष वचनों से प्रीति करने वाले के समान होते हैं, वे परमात्मा का प्रत्यक्ष नाम लेने में संकोच करते हैं। **परोक्षप्रिया इव हि देवाः** इस वाक्य की आवृत्ति अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

।। इति तृतीयः खण्डः ।।

अथ चतुर्थः खण्डः

अब श्रुति वैराग्य की निष्पत्ति के लिए जीव के जन्म-मरण का प्रवाह और उसमें पड़े जीव की अवस्थाओं का वर्णन करती है-

[1]पुरुषे ह वा अयम् आदितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथैतज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म॥1॥

1. 'पुरुषो ह' इति सुबोधिनीसम्मतः पाठः।

अन्वय

ह वै अयम् आदितः पुरुषे गर्भः भवति। सर्वेभ्यः अङ्गेभ्यः संभूतं यत् एतत् तेजः, तत् एतत् रेतः। आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति। यदा स्त्रियां तत् सिञ्चति, अथ एतत् जनयति। तत् अस्य प्रथमं जन्म।

अर्थ

ह वै-प्रसिद्ध **अयम्**-संसारी जीव **आदितः**-पहले **पुरुषे**-पुरुष के शरीर में **गर्भः**-वीर्यरूप से गर्भ **भवति**-होता है। शरीर के **सर्वेभ्यः**-सभी **अङ्गेभ्यः**-अङ्गों से **संभूतम्**-निकला **यत्**-जो **एतत्**-यह **तेजः**-वीर्य है, **तद्**-वही **एतत्**-यह **रेतः**-रेत है। वह **आत्मनि**-अपने में **एव**-ही **आत्मानम्**-नूतन शरीर प्राप्त करने वाले जीव को **बिभर्ति**-धारण करता है। पिता **यदा**-जब **स्त्रियाम्**-स्त्री में **तत्**-जीवसंसृष्ट वीर्य का **सिञ्चति**-सिंचन करता है, **अथ**-इसके पश्चात्(पिता उत्तर क्षण में जीव को) **एतत्**-गर्भरूप से **जनयति**-उत्पन्न करता है। **तत्**-गर्भ **अस्य**-संसारी जीव का **प्रथमम्**-प्रथम **जन्म**-जन्म है।

व्याख्या

प्रथम जन्म

स्वर्गलोक में भोग के द्वारा पुण्यक्षीण होने पर जीवात्मा स्वर्ग से आकाश में आता है और आकाश से वायु में। वायु से मिलकर धूम में आता है और उससे मिलकर सजल मेघ में। सजल मेघ से मिलकर बरसने वाले मेघ में आ जाता है और उससे मिलकर वर्षा से पृथ्वी में आकर धान, जौ, गेहूँ आदि अन्न से मिल जाता है-**आकाशाद् वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमो भवति। धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति। मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह ब्रीहियवा ओषधि-वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते।**(छां.उ.5.10.5-6)। स्वर्ग से आने वाली जीवात्माओं का ही यह क्रम कहा गया है। पुरुष के द्वारा अन्न खाये जाने पर जीवात्मा वीर्य में स्थित हो जाता है, इसे ही प्रस्तुत

ऐतरेयश्रुति संसारी जीव का पुरुषशरीर में गर्भ(वीर्य)रूप से रहना कहती है। शरीर में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य और वीर्य ये सप्त धातुएँ होती हैं। इनमें चरम धातु वीर्य सभी का सार है, वह शरीर के सभी अंगों में व्याप्त होकर रहती है, इसे रेत भी कहते हैं। यह अपने में जीव को धारण करता है अर्थात् इससे संसृष्ट ही जीव रहता है। यही गर्भ में जाकर नूतन शरीर को प्राप्त करता है। जैसे अग्निसंयोग से घृत द्रवित हो जाता है, वैसे ही स्त्रीसम्पर्क से वीर्य द्रवित होने पर पिता स्त्री में उसका(जीवसंयुक्त वीर्य का) सिंचन करके जीव को स्त्री में गर्भरूप से उत्पन्न करता है। इस गर्भ को विविध योनियों में संसरण करने वाले जीव का प्रथम जन्म कहा जाता है।

तत् स्त्रिया आत्मभूयं[1] गच्छति, यथा स्वमङ्गम् तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानं अत्र गतं भावयति॥2॥

अन्वय

यथा स्वम् अङ्गम् तथा तत् स्त्रियाः आत्मभूयं गच्छति। तस्मात् एनां न हिनस्ति। सा अत्र गतम् अस्य आत्मानम् एतं भावयति।

अर्थ

यथा-जैसा **स्वम्**-अपना **अङ्गम्**-अंग होता है, **तथा**-वैसा **तत्**-गर्भ (भी) **स्त्रियाः**-स्त्री का **आत्मभूयम्**-अपना अंग **गच्छति**-हो जाता है। गर्भ **तस्मात्**-अंग होने से **एनाम्**-गर्भिणी स्त्री को **न हिनस्ति**-पीड़ा नहीं देता। **सा**-स्त्री **अत्र**-शरीर में **गतम्**-आये **अस्य**-पति के **आत्मानम्**-अपने **एतम्**-गर्भरूप का **भावयति**-पालन करती है।

व्याख्या

गर्भ का पालन

जिस प्रकार हस्त, पादादि अपने अंग होते हैं, उसी प्रकार गर्भ

1. अत्रात्मभावम् आत्मीयपरः।(आ.भा.)।

भी माता का अंग हो जाता है, इसलिए वह उदर में लगे बाण के समान वेदना नहीं करता। जैसे स्तन बढ़ने पर पीड़ा नहीं देता, वैसे गर्भ बढ़ने पर भी पीडा नहीं देता, भाररूप प्रतीत नहीं होता। पति ही गर्भरूप से स्त्री की कुक्षि में आता है। स्त्री अपने खाए आहार के रस से गर्भ का पालन करती है और गर्भिणी के नियमों का अनुसरण करके उसकी रक्षा करती है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रे अधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद् भावयत्येषां लोकानां संतत्या एवं संतता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ॥3॥

अन्वय

भावयित्री सा भावयितव्या भवति। अग्रे स्त्री तं गर्भं बिभर्ति। जन्मनः अधि सः एव अग्रे कुमारं भावयति। जन्मनः अधि सः अग्रे यत् कुमारं भावयति। तत् एषां लोकानां संतत्यै आत्मानम् एव भावयति। एवं हि इमे लोकाः संतताः। तत् अस्य द्वितीयं जन्म।

अर्थ

भावयित्री-गर्भ का पालन-पोषण करने वाली **सा**-स्त्री(पति के द्वारा) **भावयितव्या**-पालनीया-पोषणीया **भवति**-होती है। **अग्रे**-प्रसव के पहले **स्त्री**-स्त्री **तम्**-उस **गर्भं**-गर्भ को **बिभर्ति**-धारण करती है। **जन्मनः**-जन्म के **अधि**-पश्चात् **सः**-पिता **एव**-ही **अग्रे**-पहले (जातकर्म आदि संस्कारों से) **कुमारम्**-पुत्र को **भावयति**-उन्नतशील बनाता है। **जन्मनः**-जन्म के **अधि**-पश्चात् **सः**-पिता **अग्रे**-पहले **यत्**-जो(संस्कारों से) **कुमारम्**-पुत्र को **भावयति**-उन्नतशील बनाता है। **तत्**-वह **एषाम्**-इन **लोकानाम्**-लोकों की **संतत्यै**-वृद्धि के लिए **आत्मानम्**-अपने को **एव**-ही **भावयति**-उन्नतशील बनाता है। **एवम्**-इस प्रकार **हि**-ही(उन्नतशील प्रजा के द्वारा) **इमे**-ये **लोकाः**-सभी लोक

संतताः-व्याप्त होते हैं। माता के उदर से जो पुत्र का बाहर निकलना है, **तत्**-वह **अस्य**-पुत्र का **द्वितीयम्**-द्वितीय **जन्म**-जन्म है।

व्याख्या

द्वितीय जन्म

गर्भ का पालन-पोषण करने वाली स्त्री के पति और पितादि का यह कर्तव्य है कि वे उसे रुचि के अनुसार आहार और वस्त्रादि उपलब्ध कराके उसका सम्यक् पालन-पोषण करें। स्त्री प्रसूति से पहले शरीर में गर्भरूप से आये पति को अपने अंगरूप से धारण करती है। इस प्रकार पति का उपकार करने वाली स्त्री का प्रत्युपकारस्वरूप उसका पोषण करना ही चाहिए और उसे शारीरिक व मानसिक किसी भी प्रकार पीड़ा नहीं पहुचानी चाहिए। इस विषय का मनुस्मृति(3.55-62, 9.5-10) में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। पुत्र का सर्वाधिक उपकार करने वाली माता का वर्णन करने के पश्चात् अब पिता का उपकार कहा जाता है। पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता सर्वप्रथम उसका जातकर्म संस्कार करता है, इसके पश्चात् यथासमय अन्य संस्कार और यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे पढ़ाकर अभ्युदयशील बनाता है। वैदिक सनातन धर्म में जो संस्कार कहे गये हैं, वे सभी मानव को मानसिक व शारीरिकरूप से उन्नत बनाने के लिये ही हैं। इस प्रकार जन्म से लेकर जब तक वह सब प्रकार से योग्य नहीं बन जाता, तब तक सर्वविध सहयोग करता ही रहता है। इस प्रकार पुत्र को उन्नतशील बनाने से वह स्वयं को उन्नतशील मानता है, ऐसी संस्कारवान् सन्तति होने से उन्नतशील प्रजा के द्वारा लोक व्याप्त होते हैं। पूर्व मन्त्र में स्त्री में गर्भरूप से स्थित होना संसारी जीव का प्रथम जन्म कहा गया था और इस द्वितीय मन्त्र में गर्भ से बाहर आने को द्वितीय जन्म कहा जाता है।

गर्भोपनिषत् में कहा है कि ऋतुकाल में वीर्य और रज का संयोग होने पर गर्भ में एक रात्रि में ही वीर्य और रज कलिल के रूप में

परिणत हो जाते हैं। ये ही सात रात्रि में बुद्बुद एवं अर्धमास के अन्तर्गत पिण्ड बन जाते हैं तथा पुनः एक मास में कठिन होकर दूसरे मास में शिर को उत्पन्न करते हैं। तीन मास में पाद उत्पन्न होकर चतुर्थ मास में अंगुलि, उदर और कटिप्रदेश का आविर्भाव होता है। इसी क्रम से पञ्चम मास में मेरुदण्ड उत्पन्न होकर षष्ठ मास में मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र उत्पन्न होते हैं तथा शरीर सप्तम मास में जीव से संयुक्त होकर अष्टम मास में पूर्णांग से सम्पन्न होता है- **ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धामासाभ्यान्तरेण पिण्डो भवति। मासाभ्यान्तरेण कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः संपद्यते। मासत्रयेण पादप्रवेशो भवति। अथ चतुर्थे मासेऽगुलिजठरकटिदेशो भवति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वसम्पूर्णो भवति।**(ग.उ.) जीव नव मास में माता के उदर से बाहर आता है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति; स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।।4।।

अन्वय

सः अयम् आत्मा अस्य पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथ अस्य अयम् इतरः आत्मा कृतकृत्यः वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन् एव पुनः जायते। तत् अस्य तृतीयं जन्म।

अर्थ

सः-वह **अयम्**-पुत्ररूप **आत्मा**-आत्मा **अस्य**-पिता के **पुण्येभ्यः**-पुण्य **कर्मभ्यः**-कर्मों के लिए **प्रतिधीयते**-प्रतिनिधि बनाया जाता है। **अथ**-इसके पश्चात् **अस्य**-पुत्र का **अयम्**-पितारूप **इतरः**-दूसरा **आत्मा**-आत्मा **कृतकृत्यः**-कृतकृत्य होकर **वयोगतः**-आयु समाप्त

होने पर **प्रैति**-मरकर चला जाता है। **स**-वह **इतः**-यहाँ से **प्रयन्**-जाते हुए **एव**-ही **पुनः**-पुनः **जायते**-जन्म लेता है। **तत्**-वह **अस्य**-इसका **तृतीयम्**-तीसरा **जन्म**-जन्म है।

व्याख्या

तृतीय जन्म

पिता का ही आत्मारूप यह पुत्र जब अध्ययनादि करके समर्थ हो जाता है, तब पिता अग्निहोत्र, देवाराधन, अतिथिसत्कार आदि समस्त लौकिक-वैदिक कर्मों को सम्पन्न करने के लिए पुत्र को प्रतिनिधि बनाकर उसे अपना भार सौंप देता है, इस प्रकार गृहस्थाश्रम का पूरा दायित्व उसे सौंपकर रुग्णतादि के कारण किसी अवश्य कर्तव्य कर्म को न करने पर भी पुत्र के द्वारा किये गये कर्म से अपने को कृतार्थ मानता है। पुत्र अपना प्रतिनिधि होने के कारण ही पुत्ररूप आत्मा के द्वारा कृत कर्म से पितारूप आत्मा अपने को पितृऋण से मुक्त होकर कृतार्थ मानता है, इसके पश्चात् शरीर की आयु पूर्ण होने पर मरण के पश्चात् जिस नूतन जन्म को ग्रहण करता है, वह इस संसारी पुरुष का तृतीय जन्म है। पूर्व में स्त्री में गर्भरूप से स्थिति को संसारी जीव का प्रथम जन्म कहा था और गर्भ से बाहर आने को द्वितीय जन्म। अब पिता के मरण के पश्चात् पुनर्जन्म को तृतीय जन्म कहा जाता है। यद्यपि प्रथम दो जन्म पुत्र के होते हैं और तृतीय जन्म पिता का होता है, तथापि पिता और पुत्र की औपचारिक एकता के अभिप्राय से वैसा कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

तदुक्तमृषिणा-

[1]गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नथ[2] श्येनो जवसा निरदीयमिति।
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥5॥

---

1. यह मन्त्र ऋ.सं. 4.27.1 में भी मिलता है।

2. अत्र ...न्नधः इति पाठान्तरः।

अन्वय

तत् ऋषिणा उक्तम्। नु अहं गर्भे सन् एषां देवानां विश्वा जनिमानि अन्ववेदम्। आयसी:[1] शतं पुर: मा अरक्षन्। अथ श्येन: जवसा निरदीयम् इति। एवम् एतत् गर्भे एव शयान: वामदेव: उवाच।

अर्थ

तत्-उस विषय को **ऋषिणा**-ऋषि ने (प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा भी) **उक्तम्**-कहा है। **नु**-अहो! **अहम्**-मैं **गर्भे**-गर्भ में **सन्**-रहकर ही **एषाम्**-अग्नि आदि **देवानाम्**-देवताओं के **विश्वा**-सभी **जनिमानि**-जन्मों को **अन्ववेदम्**-जान लिया। **आयसी:**-लौहशृंखला के समान **शतम्**-सैकड़ों **पुर:**-शरीरों ने **मा**-मुझे **अरक्षन्**-बन्धन में डाल रखा था। **अथ**-इसके अनन्तर(मैं ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रभाव से) **श्येन:**-श्येन पक्षी के समान **जवसा**-वेग से **निरदीयम्**-बाहर निकल आया हूँ। **एवम्**-इस प्रकार **एतत्**-इस वाक्य को **गर्भे**-गर्भ में **एव**-ही **शयान:**-पड़े हुए **वामदेव:**-वामदेव ऋषि ने **उवाच**-कहा।

व्याख्या

वामदेव का बन्धन से मोक्ष

वामदेव ऋषि ने माता के उदर में रहकर ही परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था। साक्षात्कारी महापुरुष ज्ञान के संकोच का हेतु अविद्या का अभाव होने से सर्वज्ञ होता है, इसीलिए वामदेव ने कहा कि मैं गर्भ में रहकर ही इन्द्रियों के अधिष्ठाता लोकपाल देवताओं के रहस्य को जान गया हूँ। ये लोक में शक्तिशाली समझे जाते हैं किन्तु स्वयं जन्म-मरण के प्रवाह में बलात् प्रवहित होकर शोकसमुद्र में निमज्जन करते रहते हैं। पहले मेरे भी लौहनिर्मित दृढ जंजीरों के समान सैकड़ों शरीर संसाररूप कारागार से बाहर निकलने के प्रतिबन्धक थे। वे अपने में अहन्ताबुद्धि कराके क्षुद्र सांसारिक

---

1. आयसी इत्यत्र प्रथमार्थे द्वितीयाविभक्तिव्यत्यय: छान्दस:।(आ.भा.)।

विषयों में मुझे आकर्षित कर मेरे पतन के हेतु बन रहे थे। पूर्व जन्म में गुरु के उपदेश से मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ था। अब ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान के प्रभाव से मैं कर्मात्मिका अविद्या का नाश कर बन्धन से वैसे ही बाहर आ गया हूँ, जैसे बाज पक्षी तीव्र वेग से पिंजड़े को तोड़कर बाहर आ जाता है।

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन्[1] स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः[2] समभवत् समभवत्॥6॥

अन्वय

एवं सः विद्वान् अस्मात् शरीरभेदात् ऊर्ध्वम् उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत् समभवत्।

अर्थ

एवम्-इस प्रकार पूर्व में संसरण करने वाला **सः**-वामदेव **विद्वान्**-ब्रह्म का अपरोक्षात्मकज्ञान वाला होकर **अस्मात्**-इस **शरीरभेदात्**-शरीरविशेष से(सुषुम्ना के द्वारा) **ऊर्ध्वम्**- ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र से **उत्क्रम्य**-निकलकर(और) अर्चिरादि मार्ग से जाकर **अमुष्मिन्**-अप्राकृत **स्वर्गे लोके**-भगवल्लोक में(ब्रह्म के साथ उसके) **सर्वान्**-सभी **कामान्**-कल्याण गुणों का **आप्त्वा**-अनुभव कर **अमृतः**-मुक्त **समभवत्**-हो गया। **समभवत्**-हो गया।

व्याख्या

मुक्तात्मा का ब्रह्मानुभव

ऋषि वामदेव भी पूर्व में जन्ममरणात्मक संसारचक्र में निमग्न थे। जिसका कि उन्होंने स्वयं **शतं मा पुर आयसीररक्षन्।**(ऐ.उ.4.5)

---

1. अत्र **ऊर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्** इति पाठान्तरः।
2. मुख को खोलकर सोता है-मुखं व्यादाय स्वपिति, जैसे यहाँ मुख के खोलने और सोने में क्रम विवक्षित नहीं है। वैसे ही ब्रह्म के गुणों के अनुभव और मोक्ष में क्रम विवक्षित नहीं है।

इस प्रकार वर्णन किया था। गर्भ में रहते ही उन्हें परमात्मसाक्षात्कार भी हुआ जिससे उनका संसारबन्धन नष्ट हो गया, इसका उन्होंने **श्येनो जवसा निरदीयमिति।**(ऐ.उ.4.5) इस प्रकार कथन किया। साक्षात्कार के अनन्तर वे गर्भ से बाहर आकर प्रारब्धभोग के अवसानकाल में वर्तमान चरमदेह का त्याग कर सुषुम्ना के द्वारा मूर्ध से निकलकर अर्चिरादिमार्ग द्वारा त्रिपादविभूति में जाकर ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों का अनुभव कर संसार से मुक्त हो गये। मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों का अनुभव करता है-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै. उ.2.1.1)। **काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः।**(श्रीभा.1.1.1) इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुक्तों की कामना के विषय ब्रह्म के कल्याणगुण काम कहे जाते हैं। सभी विषयों से विरक्त मुक्तात्मा ब्रह्म और उसके कल्याण गुणों से अतिरिक्त किसी विषय की कामना करता ही नहीं। जो मुमुक्षु इस लोक में ब्रह्म और उसके सत्य कल्याण गुणों का साक्षात्कार करके यहाँ से जाते हैं-**अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्।**(छां.उ.8.1.6) इत्यादि श्रुतियों में. अपहतपाप्मत्वादि कल्याणगुण अर्थ में काम शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत ऐतरेय मन्त्र में इसी अर्थ का बोधक काम शब्द है।

मूर्धा से उत्क्रमण

मनुष्य के शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ होती हैं, इन सबके मूल हृदय में रहते हैं। इनमें 101 नाड़ियाँ प्रधान हैं। उनमें एक नाड़ी हृदय से मूर्धा की ओर जाती है। इसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। ब्रह्म का अपरोक्ष दर्शन करने वाला उपासक उस नाड़ी से अर्चिरादि मार्ग के द्वारा अप्राकृत ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। अन्य 100 नाड़ियाँ हृदय से इधर-उधर फैली रहती हैं। वे भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करने के लिए भिन्न-भिन्न लोकों में जाने वाले प्राणी के उत्क्रमण के लिए उपयुक्त होती हैं। इस प्रकार

ब्रह्मविद्यानिष्ठ मोक्षप्राप्ति के लिए सुषुम्ना के द्वारा मूर्द्धा में स्थित ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करता है और अन्य सभी इतर नाड़ियों के द्वारा अन्य स्थानों से उत्क्रमण करते हैं-**शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।**(क.उ.2.3.16)।

अप्राकृत स्थान का बोधक स्वर्ग शब्द

प्रस्तुत मन्त्र में **स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्** इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता वामदेव का स्वर्ग लोक में मुक्त होना वर्णित है अतः यहाँ स्वर्गलोक शब्द का देवलोक अर्थ नहीं है अपितु अप्राकृत लोक=त्रिपाद्विभूति भगवद्धाम अर्थ है। देवता विशाल देवलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वीलोक में आ जाते हैं- **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥** (गी. 9.21) इत्यादि वचनों के अनुसार देवलोक में मोक्ष नहीं होता। किन्तु प्रस्तुत ऐतरेय श्रुति स्वर्गलोक में मोक्षप्राप्ति का वर्णन करती है अतः स्वर्ग का अर्थ भगवल्लोक ही है।

इसी प्रकार केनोपनिषत् के प्रथम खण्ड के द्वितीय मन्त्र में और द्वितीय खण्ड के पञ्चम मन्त्र में **प्रेत्यास्याल्लोकादमृता भवन्ति।**(के. उ.1.2, 2.5)इस प्रकार ब्रह्मोपासकों का इस लोक से जाकर मुक्त होना कहा गया है। वे कहाँ जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर **अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये**(के.उ.4.9)इस प्रकार कहा जाता है। स्वर्ग शब्द त्रिपादविभूति का वाचक है। जिसे वैकुण्ठ, साकेत आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। मुक्तात्माओं का निवास स्थान यही है। यहाँ आकर मुक्तात्मा का संसारचक्र में प्रवेश नहीं होता है-**न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते** (छां.उ.8.15.1), **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्** (ब्र.सू.4.4.22)।

॥ इति चतुर्थः खण्डः ॥

अथ पञ्चमः खण्डः

प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् के उपक्रम में **आत्मा वा इदमग्र एव आसीत्।**(*ऐ.उ.1.1*) *इस प्रकार आत्मा को ही लोक, लोकपालादि सम्पूर्ण प्रपञ्च का स्रष्टा कहा था। उसने ही मूर्धा का विदारण कर जीवात्मा के अन्तरात्मारूप से शरीर में प्रवेश किया। उसे न जानने वाले ही गर्भ, जन्म, जरा, मरणरूप क्लेशों का अनुभव करते हैं, जानने वाले नहीं। सभी में विद्यमान उस व्यापक ब्रह्म के साक्षात्कार से ही वामदेव ऋषि मुक्त हो गये। उसके ज्ञान से कोई भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, मोक्षप्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है, इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मुमुक्षुओं के द्वारा वह ही समुपास्य है, अब उस आत्मा के स्वरूप का निर्णय करने के लिए यह प्रसंग आरम्भ किया जाता है-*

कोयमात्मेति वयमुपास्महे? कतरः स आत्मा? येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति[1], येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति, यद् एतद्धृदयं मनश्चैतत्॥1॥

अन्वय

वयम् उपास्महे। अयम् आत्मा कः? सः आत्मा कतरः? इति। वा येन रूपं पश्यति, वा येन शब्दं शृणोति, वा येन गन्धान् आजिघ्रति, वा येन वाचं व्याकरोति, वा येन स्वादु च अस्वादु च विजानाति। च यत् एतत् हृदयं एतत् मनः।

अर्थ

वयम्-हम सभी(जिसकी) **उपास्महे**[2]-उपासना करने में प्रवृत्त

---

1. **येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति** इत्यस्य स्थाने **येन वा पश्यति, येन वा शृणोति** इति पाठान्तरः।
2. अत्र सामीप्याद् वर्तमानप्रयोगः।

हुए हैं, वह **अयम्**-उपास्य **आत्मा**-आत्मा **कः**-कौन है? **सः**-वह **आत्मा**-आत्मा **कतरः**[1]-किन गुणों से विशिष्ट है? **इति**-इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं ने विचार किया। **येन**-जिसके द्वारा **रूपम्**-रूप को **पश्यति**-देखता है। **वा**-अथवा **येन**-जिसके द्वारा **शब्दम्**-शब्द को **शृणोति**-सुनता है। **वा**-अथवा **येन**-जिसके द्वारा **गन्धान्**-गन्ध को **आजिघ्रति**-सूँघता है। **वा**-अथवा **येन**-जिसके द्वारा **वाचम्**-शब्द को **व्याकरोति**-बोलता है। **वा**-अथवा **येन**-जिसके द्वारा **स्वादु**-स्वाभाविक रस को **च**-और **अस्वादु**-दूषित रस को **विजानाति**-जानता है। **च**-और **यत्**-जो **एतत्**-यह **हृदयम्**-बुद्धि है, वह **एतत्**-यह **मनः**-मन है।

व्याख्या

उपास्य आत्मा

पूर्व में सभी ब्रह्मवेत्ताओं ने 'हम सभी का उपास्य आत्मा कौन है? और वह किन किन गुणों से विशिष्ट है'-**कोयमात्मेति वयमुपास्महे? कतरः[2] स आत्मा?** इस प्रकार परस्पर में मिलकर मीमांसा की। कहने का अभिप्राय यह है कि देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, जीवात्मा और परमात्मा इन सभी में आत्मा शब्द का प्रयोग देखा जाता है, इन सभी के मध्य में उपास्य आत्मा कौन है? इस प्रकार यहाँ देहादि सभी मीमांसा के विषय हैं और उनके निश्चय का विषय आत्मत्वेन उपास्य अन्यतम है। अब मीमांसा के उपरान्त

---

1. कीदृग्गुणविशिष्टः।(रं.भा.)।
2. यद्यपि बहुतों के मध्य में जिज्ञासा का विषय एक होने से कतर शब्द कतम के अर्थ में संभव है, तथापि बहुतों के मध्य में देहेन्द्रियादि से अतिरिक्त आत्मा का निर्धारण होने पर भी हृदय गुहा में प्रविष्ट वह आत्मा प्रत्यगात्मा है? अथवा परमात्मा? इस प्रकार दो में एक की जिज्ञासा होती है, इसे सूचित करने के लिए कतर शब्द का प्रयोग किया गया है, ऐसा जानना चाहिए अथवा रंगरामानुजभाष्य के अनुसार कतर का अर्थ किस प्रकार के गुणों से विशिष्ट कर लेना चाहिए।

निष्पन्न निश्चय के प्रकार को कहते हैं।

येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति इस प्रकार रूप, शब्द, गन्ध और रस के ज्ञान के साधन चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना इन ज्ञानेन्द्रियों का कथन किया गया, उपलक्षण से त्वक् का भी कथन हो जाता है। **येन वा वाचं व्याकरोति** इस प्रकार शब्दोच्चारण का करण वाक् इन्द्रिय कही जाती है। उपलक्षण से अन्य चार कर्मेन्द्रियों का भी कथन हो जाता है, इस प्रकार सभी बाह्येन्द्रियों का कथन हो जाता है। मन अन्तर् इन्द्रिय है। यहाँ निश्चयात्मिका वृत्ति से विशिष्ट अन्तःकरण हृदय शब्द से कहा जाता है और संकल्पात्मिका वृत्ति से विशिष्ट अन्तःकरण मन शब्द से। अवस्थाओं का भेद होने पर भी मन अन्तःकरण एक ही रहता है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त मत में सभी वृत्तियाँ धर्मभूत ज्ञान की ही होती हैं, मन उनमें सहायक होने से मन की वे वृत्तियाँ और उनसे विशिष्ट मन उपचार से कहा जाता है।

जो यह द्रष्टा(देखने वाला), श्रोता(सुनने वाला), घ्राता(सूँघने वाला), वक्ता(बोलने वाला) और रसयिता(स्वाद को जानने वाला) विज्ञानस्वरूप जीवात्मा है, जिसका अन्तरात्मा होकर परमात्मा शरीर में प्रविष्ट है। द्रष्टा जीव जिस करण से घटपटादि को देखता है, जिस करण से शब्द को सुनता है, जिस करण से गन्ध को ग्रहण करता है, जिस करण से शब्द का उच्चारण करता है और जिस करण से रस को जानता है, उन चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, वाक् और रसना इन्द्रियों में कोई भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि वे जड़ हैं अतः इनसे भिन्न ही कोई आत्मा हो सकता है। जैसे दशों बाह्येन्द्रियाँ जड़ होने से आत्मा नहीं हो सकतीं, वैसे ही मन भी जड़ होने से आत्मा नहीं हो सकता अतः इनसे भिन्न ही कोई आत्मा हम लोगों के द्वारा उपास्य है।

द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, वक्ता, और रसयिता विज्ञानस्वरूप जीव भी उपास्य आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि वह कर्म के अधीन है, इस कारण ही स्वतः देखने में, सुनने में, सूँघने में, बोलने में और रस को जानने में समर्थ नहीं हो सकता तथा दर्शन, श्रवण, घ्राणनादिरूप ज्ञान द्रष्टा आत्मा के धर्म हैं, इसलिए ये भी आत्मा नहीं हो सकते। यह पूर्व में कहा ही गया है कि जड़ होने से चक्षु आदि आत्मा नहीं हो सकते। वे द्रष्टा की दृष्टि में द्वारमात्र हैं अर्थात् वे ज्ञाता के ज्ञान के साधन होने से भी उपास्य आत्मा नहीं हो सकते। जो द्रष्टा की दृष्टि का अतिशय साधक है, जिस प्रधान साधन से द्रष्टा देखता है, जिससे श्रोता सुनता है, जिससे घ्राता गन्ध ग्रहण करता है, जिससे वक्ता बोलता है और जिससे रसयिता रस को जानता है, वही हम सभी का उपास्य आत्मा है।

जीव परमात्मा के द्वारा ही सबको जानता है-**येनेदं सर्वं विजानाति।** (बृ.उ.2.4.14) यह बृहदारण्यकमन्त्र और 'जीव परमात्मा के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और संभोगसुख को ठीक से जानता है'-**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति।**(क.उ.2.1.3) यह कठमन्त्र भी रूपादि सभी विषयों के ज्ञान का प्रधान साधन परमात्मा को कहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव के सभी प्रकार के ज्ञान परमात्मरूप साधन से ही होते हैं, उसके विना नहीं हो सकते। जीव परमात्मा के द्वारा ही शुक्लादि रूपों को, मधुरादि रसों को, सुरभि आदि गन्धों को, ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक, प्रिय-कठोर शब्दों को, शीत-उष्ण, मृदु-कठोर स्पर्श को और स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले सुख को जानता है। **आयुः**-सभी प्राणियों के प्राणन का हेतु **अमृतम्**-काल से अपरिच्छिन्न **ज्योतिषाम्**-प्रकाशक ज्योतियों के **ज्योतिः**-प्रकाशक **तम्**-परमात्मा की **देवाः**-देवता **उपासते**-उपासना करते हैं-**तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।**(बृ.उ.4.4.16) इस प्रकार

बृहदारण्यक श्रुति विषयों का प्रकाशक इन्द्रियों का भी प्रकाशक परमात्मा को कहती है।

परमात्मा श्रोत्र इन्द्रिय को श्रवण करने का सामर्थ्य प्रदान करने वाला है। मन को मनन करने का सामर्थ्य प्रदान करने वाला है। वाग् इन्द्रिय को उच्चारण करने का सामर्थ्य देने वाला है। प्राण को प्राणन सामर्थ्य(जीवन धारण करने का सामर्थ्य) देने वाला है। चक्षु इन्द्रिय को दर्शन करने का सामर्थ्य देने वाला है-**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः।**(के.उ.1.2)। परमात्मा श्रोत्र को सुनने का सामर्थ्य देते हैं। जिससे युक्त होकर श्रोत्र श्रोता के सुनने का साधन होती है। वे मन को मनन करने का सामर्थ्य देते हैं। जिससे युक्त होकर मन मननकर्ता के मनन का साधन होता है, उसके विना नहीं। वक्ता वाक् इन्द्रिय के द्वारा शब्द को बोलता है। वाक् इन्द्रिय को बोलने का सामर्थ्य प्रदान करने वाले परमात्मा हैं। प्राणन(जीवनधारण) करना प्राण का कार्य है। उसे प्राणनसामर्थ्य देनेवाले परमात्मा हैं। इस सामर्थ्य से युक्त प्राण के द्वारा जीव जीवनधारण करता है। चक्षु का कार्य है-दर्शन करना। द्रष्टा जीव के दर्शन का साधन चक्षु इन्द्रिय को दर्शनसामर्थ्य प्रदान करने वाले परमात्मा हैं। इस प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ परमात्मा नारायण से सामर्थ्य पाकर ही अपना कार्य करने में समर्थ होती हैं। इन श्रोत्रादि उपकरणों को कार्योपयोगी शक्ति प्रदान करने वाले परमात्मा हैं। जो परमात्मा मन के अन्दर रहकर मन को प्रेरित करता है-**यो मनोऽन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.24), जो परमात्मा अन्दर रहकर प्राण को प्रेरित करता है-**यः प्राणमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.20), जो प्राणवायु को ऊपर की ओर ले जाता है-**ऊर्ध्वं प्राणम् उन्नयति।**(क.उ.2.2.3), जो अन्दर रहकर वागिन्द्रिय को प्रेरित करता है-**यो वाचमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.21), जो अन्दर रहकर चक्षु को प्रेरित करता है-**यः चक्षुरन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.22), जो अन्दर रहकर श्रोत्र

को प्रेरित करता है-**यश्श्रोत्रमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.23), मुझ परमात्मा से प्रेरित सम्पूर्ण जगत् कार्य करने में प्रवृत्त होता है-**मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**(गी.10.8) इन वाक्यों में श्रोत्रादि के प्रेरक परमात्मा कहे गये हैं। चक्षु आदि करणों के स्वरूप और स्थिति का हेतु जो परमात्मा है, वही उनकी प्रवृत्ति का भी हेतु है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ सभी कार्यों के प्रति अनुगत कारण नहीं हैं किन्तु मन सभी के प्रति अनुगत कारण है परन्तु वह भी उपास्य आत्मा नहीं है। जो दर्शनादि करने में सबसे बढ़कर साधन है, वह मन का भी मन परमात्मा है।

यह पूर्व में कहा ही जा चुका है कि चक्षु आदि जड़ होने से आत्मा नहीं हो सकते, इसी कारण प्राण भी आत्मा नहीं हो सकता। प्राणी की हृदय गुहा में दो आत्मा प्रविष्ट हैं, उनमें एक द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, वक्ता, रसयिता क्षेत्रज्ञ आत्मा है और दूसरा आत्मा का भी आत्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वान्तरात्मा है, इसी प्रधान साधन के द्वारा जीव देखता-सुनता आदि है, यही सभी का उपास्य आत्मा ब्रह्म है।

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिर्मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥2॥

अन्वय

संज्ञानम्, आज्ञानम्, विज्ञानम्, प्रज्ञानम्, मेधा, दृष्टिः, धृतिः, मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः इति। एतानि सर्वाणि प्रज्ञानस्य एव नामधेयानि भवन्ति।

अर्थ

संज्ञानम्-एकत्वेन ज्ञान **आज्ञानम्**-अल्प ज्ञान **विज्ञानम्**-विभिन्नत्वेन ज्ञान **प्रज्ञानम्**-प्रकृष्टत्वेन ज्ञान **मेधा**-धारण करने वाली बुद्धि **दृष्टिः**-प्रत्यक्ष ज्ञान **धृतिः**-निश्चयात्मक ज्ञानविशेष **मतिः**-मनन

मनीषा-स्वातन्त्र्यबुद्धि **जूतिः**-प्रीति **स्मृतिः**-स्मरण **संकल्पः**-संकल्प **क्रतुः**-उपासना **असुः**[1]-प्राण **कामः**-असन्निहित विषय की आकांक्षा **वशः**-इच्छा **इति एतानि**-ये **सर्वाणि**-सभी **प्रज्ञानस्य**-ब्रह्म के **एव**-ही **नामधेयानि**-शरीर **भवन्ति**-होते हैं।

व्याख्या

किसी वस्तु का एकरूप से होने वाला ज्ञान संज्ञान कहलाता है-**संज्ञानमेकत्वेन ज्ञानम्।**(रं.भा.) जैसे-घटत्वेन घट का ज्ञान, पटत्वेन पट का ज्ञान। आज्ञानम् यहाँ आङ् उपसर्ग ईषत् अर्थात् अल्प अर्थ में है। ईषद् ज्ञान को आज्ञान कहते हैं-**आज्ञानमीषद् ज्ञानम्।**(रं.भा)। विभिन्नत्वेन होने वाला ज्ञान विज्ञान कहलाता है-**विज्ञानं विभिन्नतया ज्ञानम्।**(रं.भा.) अर्थात् अनेक विशेषणविशिष्टत्वेन होने वाला ज्ञान विज्ञान कहलाता है। जैसे रूपरसगन्धस्पर्शादिविशिष्टत्वेन पृथ्वी का ज्ञान। प्रकृष्टरूप(अच्छी तरह)से होने वाला ज्ञान प्रज्ञान कहलाता है-**प्रज्ञानम् प्रकृष्टतया ज्ञानम्।**(रं.भा.)। धारण करने वाली बुद्धि को मेधा कहते हैं-**मेधा धारणवती बुद्धिः।**(रं.भा.)। दृष्टि का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है। धृति निश्चयरूप ज्ञानविशेष है। मति का अर्थ मनन है। अपनी स्वतन्त्रता को विषय करने वाली बुद्धिविशेष मनीषा कहलाती है। जूति का अर्थ प्रीति है। क्रतु का अर्थ उपासना है। असु का अर्थ प्राण है। असन्निहित विषय की इच्छा को काम कहते हैं और इच्छासामान्य को वश कहते हैं-**दृष्टिः प्रत्यक्षम्। धृतिः निश्चयरूप ज्ञानविशेषः। मतिः मननम्। मनीषा स्वातन्त्र्यात्मकबुद्धिविशेषः।**

---

1. यद्यपि पूर्वोत्तर के सन्दर्भवशात् असु पद को लक्षणा से जीवनोपयोगी मनोवृत्तिरूप धर्मभूतज्ञान की अवस्थाविशेष का बोधक मानना उचित है तथापि इस प्रसंग में इन्द्रियादि के समान प्राण की भी ब्रह्मात्मकता कहना इष्ट है किन्तु असु का प्राण अर्थ न करने पर उसकी ब्रह्मात्मकता का प्रतिपादन न होने से न्यूनता होगी अतः उसका मुख्यवृत्ति से ही प्राण अर्थ किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

जूतिः प्रीतिः। क्रतुः उपासनम्। असुः प्राणः। कामः असन्निहित-विषयाकांक्षा। वशः इच्छा।(रं.भा.)।

संज्ञानादि की ज्ञानविशेषरूपता

ज्ञानस्वरूप आत्मा के आश्रित एक ज्ञान रहता है, जिसे धर्मभूत ज्ञान कहते हैं, यही संज्ञानादिरूपता को प्राप्त होता है। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान एकरूप होने पर भी बद्धावस्था में धर्मभूतज्ञान भिन्न-भिन्न कर्मरूप उपाधियों के कारण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न रूप होता है। अनुकूलत्वेन प्रतीयमान ज्ञान ही सुख कहलाता है, प्रतिकूलत्वेन प्रतीयमान ज्ञान ही दुःख कहलाता है। अपेक्षात्मक ज्ञान ही इच्छा कहलाता है। अनिष्टात्मक ज्ञान ही द्वेष कहलाता है। अनुकूल विषय को प्राप्त करने की इच्छा काम कहलाती है। प्रतिकूल विषय को निरास करने की इच्छा क्रोध कहलाती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध, स्मृति, संशय, निर्णय, विपर्यय(अन्यथा ज्ञान), भ्रम(विपरीत ज्ञान) मोह, राग, मद(गर्व), मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दम्भ, लोभ, दर्प, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, सुमति, दुर्मति, प्रीति, तुष्टि, कीर्ति, विरक्ति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, तृष्णा, भक्ति, प्रपत्ति आदि जीवात्मा के गुण अवस्थाविशेष को प्राप्त हुआ धर्मभूतज्ञान ही है। ज्ञान का आश्रय आत्मा है। अवस्थाविशेष को प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही संज्ञानादि है, इनका आश्रय आत्मा है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म होने के कारण नित्य धर्म है। संज्ञानादि और सुखादि आत्मा के स्वाभाविक धर्म न होने के कारण अनित्य धर्म हैं। वे केवल आत्मस्वरूप से उत्पन्न नहीं होते हैं बल्कि प्रकृति के संसर्ग से होने वाले कर्मों से उत्पन्न होते हैं। आत्मस्वरूप इनका साधारण कारण है, कर्म असाधारण कारण है। उन कर्मों का भी असाधारण कारण जीव का प्रकृति के साथ संसर्ग है। कर्मकृत प्रकृति के संसर्ग से विनिर्मुक्त होकर परब्रह्म और उसकी विभूतिभूत सकल पदार्थों को विषय करने वाला अपरिच्छिन्न आनन्दरूप साक्षात्कारात्मक

ज्ञान ही जीव का स्वाभाविक धर्म है, यह मुक्तावस्था में आविर्भूत होता है।

प्रस्तुत खण्ड के प्रथम मन्त्र में चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों तथा अन्तरिन्द्रिय मन का निरूपण किया गया था और सम्प्रति व्याख्येय द्वितीय मन्त्र में अवस्था विशेष से युक्त धर्मभूतज्ञान ही संज्ञानादिरूप कहा गया। संज्ञानादि के मध्य में पठित असु[1] शब्द प्राण का वाचक है। पूर्वोक्त बाह्येन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय, प्राण और ज्ञान ये सभी प्रज्ञान शब्द से कहे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के नामधेय-शरीर होते हैं-**प्रज्ञानशब्दितज्ञान-स्वरूपस्य ब्रह्मणः उक्तानि बाह्यान्तरिन्द्रियप्राणज्ञानानि नामधेयानि तच्छरीराणि भवन्तीत्यर्थः**।(रं.भा.)। श्रुति में पठित नामधेय पद का लक्षणा से शरीर अर्थ किया गया है। इन्द्रियादि सभी ब्रह्म के शरीर हैं अर्थात् ब्रह्मात्मक हैं।

शंका-नामधेय पद वाचक अर्थ में प्रसिद्ध है, तो प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्ध शरीर अर्थ क्यों किया जाता है?

समाधान-सर्वाण्यैवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति इस वाक्य में सर्वाणि पद शब्दस्वरूप का बोधक नहीं है, वह तो चक्षु आदि और संज्ञानादि अर्थों का वाचक है। पद ही अर्थ का वाचक होता है, अर्थ वाचक नहीं होता, इसलिए नामधेय पद का वाचकरूप मुख्य अर्थ बाधित होने के कारण उसका लक्षणा से शरीर अर्थ किया जाता है। मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा का आश्रय करना सर्वसम्मत माना ही जाता है।

यदि उक्त वाक्य में प्रयुक्त सर्वाणि पद से इन्द्रियादि के बोधक चक्षु आदि और संज्ञानादि को ग्रहण किया जाय तो नामधेय पद का मुख्यार्थ वाचक लिया जा सकता है। तब चक्षु आदि इन्द्रियों के वाचक शब्द प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म के बोधक हैं, यह अर्थ होता है। चक्षु आदि इन्द्रियों, संज्ञानादि तथा प्राण के वाचक शब्द चक्षु आदि

इन्द्रियों का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराते हैं। इस पक्ष में नामधेय पद की लक्षणा नहीं होती किन्तु सर्वाणि पद की होती है। चक्षु आदि का अन्तरात्मा ब्रह्म है, वे ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्म के शरीर हैं, इस प्रकार इस पक्ष में भी सभी की ब्रह्मात्मकता का प्रतिपादन होता है।

ब्रह्मात्मक जगत्

ब्रह्म जिसका आत्मा(अन्तरात्मा अर्थात् नियन्ता) होता है, वह वस्तु ब्रह्मात्मक कही जाती है और उसमें रहने वाला धर्म ब्रह्मात्मकता कहा जाता है-**ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मकः, तस्य भावः ब्रह्मात्मकत्वम्।** ब्रह्म चेतनाचेतनरूप समस्त जगत् का आत्मा है, इसलिए जगत् ब्रह्मात्मक कहा जाता है। जगत् का अन्तरात्मा ब्रह्म है। वह अपने अन्तरात्मा के रूप में परब्रह्म को सदैव लिये रहता है। अपनी अन्तरात्मा के रूप में ब्रह्म को लिये रहना ही जगत् की ब्रह्मात्मकता है। **तत्त्वमसि।**(छां.उ.6.8.7)इस वाक्य में श्वेतकेतु नामक जीवविशेष का ब्रह्मात्मकत्व वर्णित है। **अयमात्मा ब्रह्म।**(मा.उ.1.2) यह दूसरा वाक्य जीवसामान्य अर्थात् सभी जीवों के ब्रह्मात्मकत्व का प्रतिपादन करता है। जैसे इस जड़ शरीर और जीवात्मा में भेद है, वैसे ही जीवात्मा और ब्रह्म में भी भेद है। भेदश्रुतियाँ इस भेद का प्रतिपादन करती हैं। शरीर और जीवात्मा में भेद रहने पर भी लोक में यह व्यवहार होता है कि मनुष्य जानता है, देवता सुखी है इत्यादि, इन दोनों वाक्यों का क्रमशः यह अर्थ है कि मनुष्यशरीर वाली आत्मा जानती है, देवताशरीर वाली आत्मा सुखी है। इस प्रकार के व्यवहार में देव, मनुष्यादि शब्द विशेषण के रूप में शरीर का बोध कराते हुए विशेष्य के रूप में शरीर में रहने वाली जीवात्मा का भी बोध कराते हैं। जैसे यहाँ अचेतन शरीर के वाचक मनुष्यादि शब्द मनुष्यादिशरीरविशिष्ट आत्मा के बोधक हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस अभेद वाक्य में जीवात्मा का वाचक 'त्वम्' शब्द सामने उपस्थित चेतनजीवात्मशरीरक ब्रह्म का

बोध कराता है और 'तत्' शब्द **सदेव सोम्य**(छां.उ.6.2.1) इस प्रकार उपक्रम में कहे गये जगत्कारण ब्रह्म का बोध कराता है अत: अभेदवाक्य जीवात्मशरीरक और जगत्कारण ब्रह्म के अभेद का बोधक है, जीव और ब्रह्म की स्वरूप-एकता का बोधक नहीं है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' यह अभेदबोधक वेदवाक्य जीवान्तर्यामी और ब्रह्म में अभेद को बताते हुए यह सिद्ध करता है कि जीव ब्रह्मात्मक है। यहाँ एक ही 'त्वं' पदसे जीव विशेषण रूप में तथा ब्रह्म विशेष्य रूप में कहा जाता है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।(छां.उ.3.14.1) यह अभेदबोधक वाक्य चेतनाचेतन जगत् के अन्तरात्मा और ब्रह्म में अभेद को बताते हुए चेतन जीवात्माओं के साथ अचेतन पदार्थों की भी ब्रह्मात्मकता का निरूपण करता है। यहाँ सर्वम् पद से जगत् विशेषणरूप में और अन्तरात्मा विशेष्यरूप में कहा जाता है। इन सभी अभेदबोधक वाक्यों से जगत् का ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध होता है। अभेदबोधक वाक्यों का जीव और ब्रह्म अथवा जगत् और ब्रह्म की स्वरूप-एकता का बोध कराने में तात्पर्य नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर जीव और ब्रह्म के भेद का बोध कराने वाली श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी तथा जीव को शरीर और ब्रह्म को आत्मा कहकर इन दोनों में शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाली जो घटक[1] श्रुतियाँ हैं, उनसे विरोध का प्रसंग होगा। घटक श्रुतियों के द्वारा जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध ज्ञात होने से

1. भेदश्रुति और अभेदश्रुतियों में विरोध प्रतीत होने पर उसका निवारण करने वाली कुछ श्रुतियाँ हैं। ये विरोध को शान्त करके उन श्रुतियों की संगति को बताती हैं, इसलिए घटक श्रुतियाँ कही जाती हैं। ये शरीरात्मभाव का बोध कराकर उनके विरोध की निवृत्ति करके संगति बताती हैं। घटक श्रुतियों का अर्थ यही है कि ब्रह्म अन्तरात्मा है और चेतनाचेतन जगत् उसका शरीर है। इससे जगत् और ब्रह्म का शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसके द्वारा भेद-श्रुति और अभेद-श्रुतियों का समन्वय हो जाता है।

भेदश्रुतियों और अभेदश्रुतियों में आपाततः प्रतीयमान विरोध समाप्त हो जाता है। इसलिए उक्त रीति से जीव और जगत् को ब्रह्मात्मक बताने में ही अभेदश्रुतियों का तात्पर्य सिद्ध होता है।

शरीरात्मभाव सम्बन्ध

चेतनाचेतन जगत् और ब्रह्म का शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध है। जो परमात्मा जीवात्मा में रहते हुए जीवात्मा के अन्दर रहता है, जीवात्मा जिसे नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है तथा जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वही निर्दोष, परम भोग्य अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इस घटकश्रुति से जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसी प्रकार **यस्य आपः शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.8) इत्यादि श्रुतियों से अचेतन जगत् और ब्रह्म में शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। **जगत्सर्वं शरीरं ते।**(वा.रा.6.117.25) इत्यादि वचन चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् और ब्रह्म के शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं।

उक्त रीति से इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि(ज्ञान) से व्यतिरिक्त उपास्य परमात्मा का प्रतिपादन करके अब उसका ब्रह्मा, इन्द्रादि जीवात्मभिन्नत्वेन भी प्रतिपादन किया जाता है-

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम्, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥3॥

अन्वय

एषः ब्रह्मा। एषः इन्द्रः। एषः प्रजापतिः। च एते सर्वे देवाः। पृथिवी आपः ज्योतींषि वायुः आकाशः इति एतानि इमानि पञ्च महाभूतानि। च क्षुद्रमिश्राणि इव[1] इमानि इतराणि इतराणि बीजानि। अण्डजानि, जारुजानि, स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वाः च गावः च पुरुषाः च हस्तिनः इदं यत् किं च जङ्गमं च पतत्रि च यत् स्थावरम् च प्राणि, तत् सर्वं प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। लोकः प्रज्ञानेत्रः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म।।3।।

अर्थ

एषः-यह **ब्रह्मा**-ब्रह्मा **एषः**-यह **इन्द्रः**-इन्द्र **एषः**-यह **प्रजापतिः**-प्रजापति **च**-और **एते**-ये **सर्वे**-सभी **देवाः**-देवता(प्रज्ञान शब्द से प्रोक्त ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के शरीर हैं।)**पृथिवी**-पृथ्वी **आपः**-जल **ज्योतींषि**-तेज **वायुः**-वायु **आकाशः**-आकाश **इति**-इस प्रकार कहे गये **एतानि इमानि**-ये सभी **पञ्च**-पञ्च **महाभूतानि**-महाभूत(भी ब्रह्म के शरीर हैं।) **च**-और **क्षुद्रमिश्राणि**-क्षुद्र जीवों से युक्त **इमानि**-ये **इतराणि इतराणि**-भिन्न भिन्न प्रकार वाले **बीजानि**-शरीर भी(परमात्मा के शरीर हैं।) **अण्डजानि**-अण्डों से उत्पन्न होने वाले **जारुजानि**-जरायु से उत्पन्न होने वाले **स्वेदजानि**- पसीने से उत्पन्न होने वाले **उद्भिज्जानि**-भूमि फोड़कर उत्पन्न होने वाले **अश्वाः**-अश्व **गावः**-गाय **पुरुषाः**-मनुष्य **च**-और **हस्तिनः**-हस्तिरूप **इदम्**-यह **यत्**-जो **किम्**-कुछ **च**-भी **जङ्गमम्**-चलने वाला **पतत्रि**-उड़ने वाला **च**-और **यत्**-जो **स्थावरम्**-स्थिर रहने वाला **प्राणि**-प्राणीसमूह है, **तत्**-वह **सर्वम्**-सभी **प्रज्ञानेत्रम्**-प्रज्ञानरूप अन्तर्यामी वाला है। वह **प्रज्ञाने**-प्रज्ञान में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित है। **लोकः**-प्राणीसमूह **प्रज्ञानेत्रः**-प्रज्ञानरूप अन्तर्यामी वाला है। **प्रज्ञा**-प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा(सम्पूर्ण जगत् का) **प्रतिष्ठा**-आधार है। **प्रज्ञानम्**-प्रज्ञानरूप **ब्रह्म**-ब्रह्म है।

---

1. इवशब्दोऽनर्थकः।(रं.भा., आ.भा., सु.)

व्याख्या

ब्रह्मा व्यष्टिसृष्टि करते हैं, देवताओं का राजा इन्द्र है, प्रजा की वृद्धि करने वाले दक्षादि महर्षि प्रजापति कहलाते हैं। पूर्व मन्त्र के **सर्वाण्यैवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति** इस वाक्य का इस मन्त्र में भी सम्बन्ध होता है। ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति और अग्नि, वायु आदि अन्य देवता भी प्रज्ञान शब्द के वाच्य परमात्मा के शरीर हैं। परमात्मा उन सभी का शरीरी आत्मा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मा, इन्द्रादि जीवों से भिन्न ही उपास्य आत्मा है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पञ्च महाभूत तथा क्षुद्र जीवों के शरीर भी प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म के शरीर हैं। सभी जीवात्माएँ समान हैं किन्तु ब्रह्मादि देवताओं की अपेक्षा क्षुद्र शरीर उपाधि वाले जीव यहाँ क्षुद्र कहे गये हैं, उनके ही भेद अण्डजादि हैं। अण्डों से चिड़ियाँ और काक आदि पक्षी उत्पन्न होते हैं। गर्भ को आवृत करने वाले चर्म (झिल्ली) को जारु कहते हैं, उससे उत्पन्न मनुष्य और पशु आदि के शरीर जारुज या जरायुज कहलाते हैं। पसीने से उत्पन्न जुएँ आदि स्वेदज कहलाते हैं। भूमि फोड़कर उत्पन्न होने वाले लता और वृक्ष उद्भिज्ज कहलाते हैं। इनमें चलने-फिरने वाले जंगम कहलाते हैं, उड़ने वाले पतत्रि और स्थिर रहने वाले स्थावर। अण्डज, जारुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गो, पुरुष और हाथीरूप यह जो कुछ जंगम, पतत्रि और स्थावर प्राणिसमूह है, वह सभी प्रज्ञानेत्र[1] अर्थात् प्रज्ञानात्मक ब्रह्मरूप अन्तर्यामी वाला है अर्थात् इन सभी का अन्तरात्मा प्रज्ञानरूप ब्रह्म है और वे सभी ब्रह्म के शरीर हैं। उत्पत्ति, स्थिति और लय इन सभी कालों में सभी का आधार प्रज्ञान ब्रह्म ही है। वह सर्वात्मा होने से स्वरूपतः और गुणतः निरतिशय बृहत् है। सभी का

1. प्रज्ञैव नेत्रमस्येति प्रज्ञानेत्रम्। नीयते अनेनेति नेत्रमन्तर्यामीत्यर्थः।(रं.भा.), नीयते अनेनेति नेत्रं प्रज्ञैव नेत्रं नयनकारकं यस्य तादृशम्। प्रज्ञापदेन प्रज्ञानात्मकस्य उपास्यस्यात्मनो ग्रहणम्।(आ.भा.)।

अन्तरात्मा और सभी का आधार होने से प्रज्ञान ब्रह्म ही उपास्य आत्मा सिद्ध होता है।

स एतनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतस्समभवत् समभवदिति॥4॥

॥ इति पञ्चमः खण्डः ॥

अन्वय

सः अस्मात् लोकात् उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके एतेन प्रज्ञेन आत्मना एव सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत् समभवत् इति।

अर्थ

सः-ब्रह्मदर्शी वामदेव **अस्मात्**-इस **लोकात्**-शरीर से सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से **उत्क्रम्य**-निकलकर(और अर्चिरादि मार्ग से) **अमुष्मिन्**-अप्राकृत **स्वर्गे लोके**-भगवल्लोक में जाकर **एतेन**-इस **प्रज्ञेन**-सर्वज्ञ **आत्मना**-ब्रह्म के साथ **एव**-ही(उसके) **सर्वान्**-सभी **कामान्**-कल्याण गुणों का **आप्त्वा**-अनुभव कर **अमृतः**-मुक्त **समभवत्**-हो गया। **समभवत्**-हो गया।

व्याख्या

ऋषि वामदेव ब्रह्म का साक्षात्कार करके प्रारब्धभोग के अवसान काल में वर्तमान चरमदेह का त्याग कर सुषुम्ना के द्वारा मूर्धा से निकलकर अर्चिरादिमार्ग द्वारा त्रिपादविभूति में जाकर सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों का अनुभव कर संसार से मुक्त हो गया। मुक्तात्माद्वारा सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों के अनुभव करने का 'मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों का अनुभव करता है'-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.1) यह तैत्तिरीयश्रुति भी वर्णन करती है।

मुक्त

जो निर्मल अन्तःकरण वाली मुमुक्षु आत्माएँ सद्गुरु का समाश्रय

प्राप्त कर उनके उपदेश से वेदान्तवेद्य परब्रह्म को जानकर उसकी प्राप्तिरूप मोक्ष की सिद्धि के लिए ब्रह्मविद्या के अङ्गरूप से विहित कर्म तथा अङ्गी ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से संसार के सम्बन्ध का विनाश करके अर्चिरादि मार्ग के द्वारा प्रकृतिमण्डल से पर त्रिपादविभूति पहुँचकर सतत ब्रह्मानुभव करती रहती हैं, वे मुक्त कहलाती हैं। इनका पुनः संसार में बन्धन नहीं होता। मुक्त सर्वशरीरक परब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2) इत्यादि श्रुतियाँ मुक्तात्मा का वर्णन करती हैं।

स्वाभाविक रूप का आविर्भाव

सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों के निवृत्त होने पर ही मुक्तावस्था में स्वाभाविकरूप का आविर्भाव होता है, यही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त होने पर जीवात्मा परब्रह्म के समान आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक से सम्पन्न होता है। यही आत्मा का स्वाभाविकरूप है। यह आत्मा कर्मकृत शरीर से निकलकर अर्चिरादि मार्ग से परब्रह्म को प्राप्तकर अपने ब्राह्मरूप से आविर्भूत होती है-**एष संप्रसादोऽस्मा- च्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**(छां.उ.8. 12.2), इसके पश्चात् सुख-दुःख भोगने के लिये संसार में आगमन नहीं होता।

मुक्त की ब्रह्म से परम समता

प्रस्तुत श्रुति में आये अमृतः पद का आविर्भूत ब्राह्म गुणों वाला अर्थ है-**अमृतः आविर्भूतब्रह्मस्वरूपः।**(रं.भा.), **अमृतः आविर्भूत-गुणाष्टकविशिष्टब्राह्मस्वरूपः।**(आ.भा.) **एष आत्माऽपहतपाप्मा।**(छां. उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म(ब्रह्म के) गुण कहे गये हैं और **य आत्माऽपहतपाप्मा**(छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में वही आत्मा के गुण कहे गये हैं। परमात्मा के ये गुण सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु प्रकृतिसंसर्ग के कारण जीवात्मा के गुण बद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। **परं ज्योतिरुपसंपद्य**

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।(छां.उ.8.12.2) यह श्रुति मुक्तावस्था में आत्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भाव को कहती है।

अविद्या के पूर्णतः निवृत्त होने से मुक्तात्मा का धर्मभूत ज्ञान भी असंकुचित होता है। इस प्रकार मुक्तात्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म गुणों का आविर्भाव होने से तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञान होने से उसकी परमात्मा से परम समता होती है। अपहतपाप्मत्वादि गुणों का आविर्भावरूप तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञानवत्त्वरूप परम समता है। ज्ञानरूपत्वेन सभी जीवात्मा परमात्मा के समान हैं किन्तु आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणवत्त्वेन तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञानवत्त्वेन मुक्तात्मा परमात्मा के अत्यन्त समान है। इसलिए आविर्भूत ब्राह्म गुण(गुणाष्टक) वाले मुक्तात्मा के लिए **आकाश शरीरं ब्रह्म।**(तै.उ.1.6.3)इस तैत्तिरीय श्रुति में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् आविर्भूत ब्राह्म गुणों वाला होने से मुक्त को ब्रह्म कहा जाता है, इसी अभिप्राय से 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है'-**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।** (मु.उ.3.2.9)यह मुण्डकश्रुति प्रवृत्त होती है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला मुक्तात्मा आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म गुणों वाला होता है। स्वरूपतः और गुणतः निरतिशय बृहत्त्व ही ब्रह्मशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है इसलिए स्वरूपतः तथा गुणतः निरतिशय बृहत् परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है। प्रवृत्तिनिमित्त का एकदेश गुणतः बृहत्त्व प्रत्यगात्मा में है अतः गुणतः निरतिशय बृहत् प्रत्यगात्मा भी है इसलिए इसे भी ब्रह्म कहा जाता है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए मुण्डकोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या का अवलोकन करना चाहिए।

सर्वज्ञता

ज्ञान के संकोच के हेतु कर्म का सर्वथा अभाव होने से मुक्त का धर्मभूतज्ञान सर्वदा विभु ही रहता है। वह इन्द्रियनिरपेक्ष होकर सबका

प्रकाश करता है, इसलिए मुक्त आत्मा सर्वज्ञ होती है। वह चेतन तथा अचेतनरूप सर्वप्रकार वाले ब्रह्म का सर्वदा अनुभव करता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानवाला संसारी प्राणी किसी विशेषणवाले द्रव्यगुणादिरूप किसी विशेष्य का अनुभव करता है, परब्रह्म का अनुभव नहीं करता क्योंकि वह इन्द्रियका विषय नहीं है किन्तु इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानवाला मुक्त सभी विशेषणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां. उ.7.26.2) सभी विशेषणों वाले परब्रह्म के अनुभव का अर्थ है कि ब्रह्मात्मक सभी का अनुभव करना और सर्वात्मा(सर्वशरीरक) रूप से ब्रह्म का अनुभव करना। अज्ञानी जीव के ज्ञान के विषय घटपटादि विविध विशेष्य होते हैं किन्तु मुक्त के ज्ञान का विषय एक ब्रह्म ही मुख्य विशेष्य होता है। मुक्त के ज्ञान में चक्षु आदि करण नहीं होते और प्रपंच की प्रधानता नहीं होती। वह दुःख के हेतु कर्म से सर्वथा रहित होता है इसलिए उसे कभी भी दुःखानुभव नहीं होता।

मुक्त परब्रह्म के स्वरूप, श्रीविग्रह, गुण, विभूति और लीला आदि का साक्षात्कार करता रहता है। मुक्त को होने वाला अनुभव परिपूर्ण होता है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती। इस अनुभव का नाश कभी नहीं होता। श्रीभगवान् सुखरूप हैं, इसलिए उनको विषय करने वाला अनुभव भी सुखरूप होता है। यह सब ब्रह्मात्मक है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**(छां.उ.3.14.1), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, प्रकृति और जीव ये सभी ब्रह्मात्मक हैं-**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च॥**(वि.स. ना.136)। संसार दशा में कर्म से धर्मभूत ज्ञान का संकोच होने के कारण ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव नहीं होता इसलिए दुःख का अनुभव होता है। मुक्ति दशा में कर्मों की पूर्णतः निवृत्ति होने से ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव होता है, इस कारण मुक्त को दुःख के लेश की भी प्रसक्ति नहीं होती। उसे भगवद्विभूतिरूप से नरक भी अनुकूल प्रतीत होता है। ब्रह्मात्मक जगत् दुःखरूप नहीं हो सकता,

प्रतिकूलता की प्रतीति तो कर्मरूप उपाधि के कारण है। **सर्वं दुःखम्** यह बौद्धमत है, वैदिक मत नहीं। **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**(यो.सू.2. 15) इस प्रकार योगसूत्र में जगत् की दुःखरूपता संसार से वैराग्य बढ़ाने के लिए कही गयी है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ग्राह्य और त्याज्य ऐसा विभाग होता ही नहीं। जगत् की सुख-दुःख और मोहरूपता संसारी जीव की दृष्टि से है, मुक्त की दृष्टि से नहीं। **आराममस्य पश्यति।**(बृ.उ.)।

।। ऐतरेयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनीव्याख्या समाप्त ।।

अथ षष्ठः खण्डः

[1]**वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। अवतु वक्तारम्।। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।**

।। इति षष्ठः खण्डः ।।

।। इति ऐतरेयोपनिषत् ।।

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृता।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्येयं सुमनोरमा।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।।2।।

।। इति ।।

---

1. **वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता** यह मन्त्र कौषीतकी और ऐतरेय आदि दश ऋग्वेदीय उपनिषदों के शान्तिमन्त्ररूप से पढ़ा जाता है किन्तु यहाँ उपनिषद्रूप से भी पढ़ा गया है, यह इसका वैशिष्ट्य है।

परिशिष्ट-1
संकेतानुक्षरानुक्रमणिका

अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
आ.भा.	आनन्दभाष्यम्
उ.सू.	उणादिसूत्रम्
ऋ.सं.	ऋग्वेदसंहिता
ऐ.उ.	ऐतरेयोपनिषत्
ऐ.वि.	ऐतरेयोपनिषद्विवरणम्
क.उ.	कठोपनिषत्
के.उ.	केनोपनिषत्
कौ.उ.	कौषीतकी-उपनिषत्
ग.उ.	गर्भोपनिषत्
छां.उ.	छान्दोग्योपनिषत्
तै.आ.	तैत्तिरीय-आरण्यकम्
तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै.उ.आ.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्
तै.उ.रं.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्
प्रदी.	प्रदीपिका
बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यन्दिनपाठ
ब्र.उ.	ब्रह्मोपनिषत्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
भा.प.	भाष्यपरिष्कार:
म.प्र.	मणिप्रभा
म.भा.प.	महाभाष्य-पस्पशाह्निकम्
मा.उ.	माण्डूक्योपनिषत्
मु.उ.	मुण्डकोपनिषत्

मुक्ति.उ. मुक्तिकोपनिषत्
यो.सू. योगसूत्रम्
वा.रा. वाल्मीकीयरामायणम्
वि.पु. विष्णुपुराणम्
वि.स.ना. विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्
रं.भा. रंगरामानुजभाष्यम्
श्रीभा. श्रीभाष्यम्
श्रु.प्र. श्रुतप्रकाशिका
श्वे.उ. श्वेताश्वतरोपनिषत्
सा.भा. सायणभाष्यम्
सु. सुबोधिनी
सु.उ. सुबालोपनिषत्

परिशिष्ट-2

मन्त्रानुक्रमणिका

परिशिष्ट- 3

प्रमाणानुक्रमणिका

परिशिष्ट- 4

ग्रन्थानुक्रमणिका

1. **ईशादि नौ उपनिषद्**

   व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2040

2. **उपनिषत्संग्रहः**

   मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 2006

3. **उपनिषद्भाष्यम्**

   श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, केनाद्युपनिषत्पुरुषसूक्तश्रीसूक्त-भाष्यम्, श्रीमदविभनवदेशिक वीरराघवाचार्य महादेशिकविरचित परिष्कार-उपनिषदर्थकारिकासहितम्, श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट चेन्नै सन 2003

4. **उपनिषद्वाक्यमहाकोशः** (भाग 2)

रूपा बुक्स प्राईवेट लिमिटेड जयपुर, सन 1991

5. ऋग्वेदसंहिता
नागप्रकाशन दिल्ली, सन 1996

6. एकादशोपनिषदः
ईशाद्यष्टसु अमरदासाख्यविदुषा विरचितयोपनिषन्मणिप्रभया समलंकृताः, मोतीलाल बनारसीदास लाहौर, वि.सं.1994

7. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत्
चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, सन 1990

8. ऐतरेयब्राह्मणम्(भाग 1)
सुखप्रदाख्यवृत्तिसहितम्, नाग प्रकाशक दिल्ली, सन 1991

9. ऐतरेयोपनिषत्
आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता, विद्यारण्य-विरचितैतरेयोपनिषद्दीपिका च, आनन्दाश्रममुद्रणालय, सन 1931

10. ऐतरेयोपनिषत्
मिताक्षराटिप्पणानन्दगिरिटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता, कैलासाश्रम ऋषीकेश, वि.सं. 2040

11. ऐतरेयोपनिषत् (विमर्शात्मकं सम्पादनम्)
व्याख्याचतुष्टयोपेता (प्रतिपदार्थदीपिका, प्रकाशिका, आनन्दभाष्यम्, सुबोधिनी) संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1997

12. कठोपनिषत्
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

13. केनोपनिषत्
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

14. **तत्त्वत्रयम्**

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

15. **तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्**

श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्य-प्रणीतपरिष्कारपरिष्कृतम्, 25 नाथमुनि वीथी, टी. नगर चेन्नई, सन 1973

16. **तैत्तिरीयोपनिषत्**

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2017

17. **दश वैदिकशान्तिमन्त्राः**

व्याख्याता स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, कैलास आश्रम ऋषीकेश, वि.सं. 2068

18. **दशशान्तयः**

व्याख्याकार स्वामी काशिकानन्दगिरि, आनन्दवन अध्यात्मविद्या प्रकाशन ट्रस्ट, आनन्दवन आश्रम कांदली मुम्बई, सन 2010

19. **मनुस्मृतिः**

मन्वर्थमुक्तावल्या सहिता, मणिलाल इच्छाराम देसाई गुजराती मुद्रणालय मुम्बई, सन 1913

20. **मुण्डकोपनिषत्**

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

21. **माण्डूक्याद्युपनिषत्त्रयी**

श्रीविष्वक्सेनाचार्यस्वामिप्रणीतया 'गूढार्थदीपिका' समाख्यया भाषाव्याख्यया समन्विता श्रीमहालक्ष्मी-नारायणयज्ञसमिति सेमरिया आरा, वि.सं. 2010

22. **माण्डूक्योपनिषत्**

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

23. **विशिष्टाद्वैतकोशः**(तृतीयः सम्पुटः)

संस्कृतसंशोधनसंसत् मेलुकोटे, सन 1989

24. **विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन**

स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2013

25. **शार्ङ्गधरसंहिता**

श्रीशार्ङ्गधराचार्यप्रणीता, श्रीलक्ष्मीपतित्रिपाठीकृतया सुबोधिनीभाषाटीकया संयुता, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, सन 1942

26. **श्रीविष्णुपुराणम्**

हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2050

27. **श्वेताश्वतरोपनिषत्**

प्रकाशिका-आनन्दभाष्याख्यभाष्यद्वयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 2012

प्रस्तुत **ऐतरेयोपनिषत्** ग्रन्थ में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है।

व्याख्याकार की प्रकाशित कृतियाँ

1.विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
2.तत्त्वत्रयम्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
3.ईशावास्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
4.केनोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
5.कठोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
6.प्रश्नोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
7.मुण्डकोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
8.माण्डूक्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
9.तैत्तिरीयोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
10.ऐतरेयोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
11.केनोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
12.माण्डूक्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या

प्रकाशनाधीन

13.ऐतरेयोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
14.श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर-हिन्दीव्याख्या
15.प्रश्नोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
16.तैत्तिरीयोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
17.छान्दोग्योपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
18.बृहदारण्यकोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
19.रामतापनीयोपनिषत्-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या 20.वेदस्तुति-हिन्दीव्याख्या
21.श्रीमद्भगवद्गीता-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या 22.यतीन्द्रमतदीपिका-हिन्दीव्याख्या
23.ब्रह्मसूत्र-तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या 24.तर्कसंग्रहपदकृत्य-हिन्दीव्याख्या
25.श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण-एक मीमांसा 26.मीमांसापरिभाषा-हिन्दीव्याख्या
27.सांख्यकारिकागौडपादभाष्य-हिन्दीव्याख्या

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली

प्रस्तुत ऐतरेयोपनिषत् ग्रन्थ में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है।

<u>व्याख्याकार की प्रकाशित कृतियाँ :</u>

1. विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन
2. तत्त्वत्रयम्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
3. ईशावास्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
4. केनोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
5. कठोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
6. प्रश्नोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
7. मुण्डकोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
8. माण्डूक्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
9. तैत्तिरीयोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
10. ऐतरेयोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
11. केनोपनिषद्- रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
12. माण्डूक्योपनिषद्- रङ्गरामानुजभाष्य-ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या

<u>प्रकाशनाधीन :</u>

13. ऐतरेयोपनिषद्- रङ्गरामानुजभाष्य - ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
14. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर-हिन्दीव्याख्या
15. प्रश्नोपनिषद्- रङ्गरामानुजभाष्य - ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
16. तैत्तिरीयोपनिषद्- रङ्गरामानुजभाष्य - ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
17. छान्दोग्योपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
18. बृहदारण्यकोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
19. रामतापनीयोपनिषत्- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
20. वेदस्तुति- हिन्दीव्याख्या
21. श्रीमद्भगवद्गीता- ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या
22. यतीन्द्रमतदीपिका- हिन्दीव्याख्या
23. ब्रह्मसूत्र- तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्या
24. तर्कसंग्रहपदकृत्य- हिन्दीव्याख्या
25. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण- एक मीमांसा
26. मीमांसापरिभाषा- हिन्दीव्याख्या
27. सांख्यकारिकागौडपादभाष्य- हिन्दीव्याख्या

मूल्य: ₹ 100.00

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली